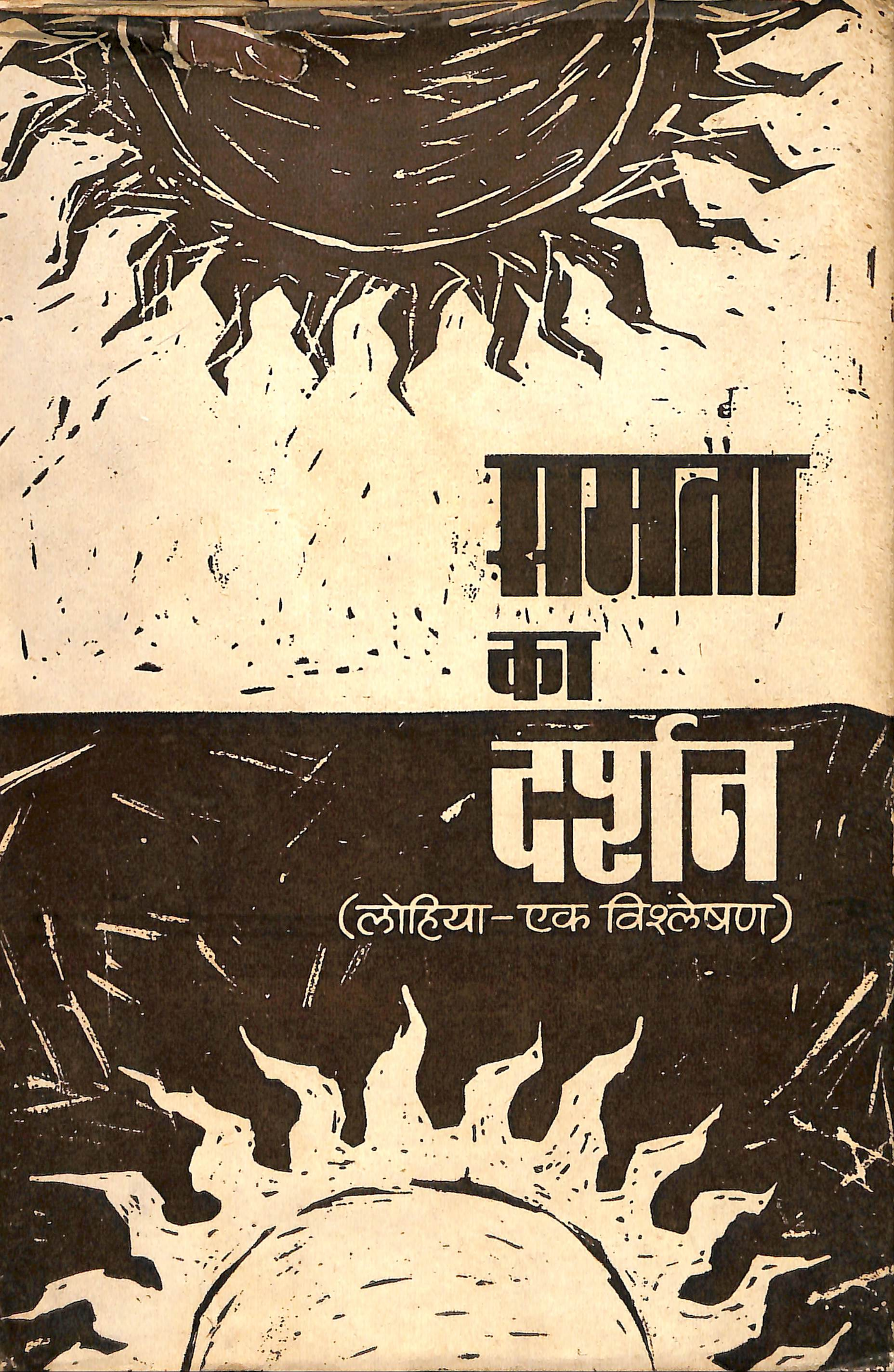
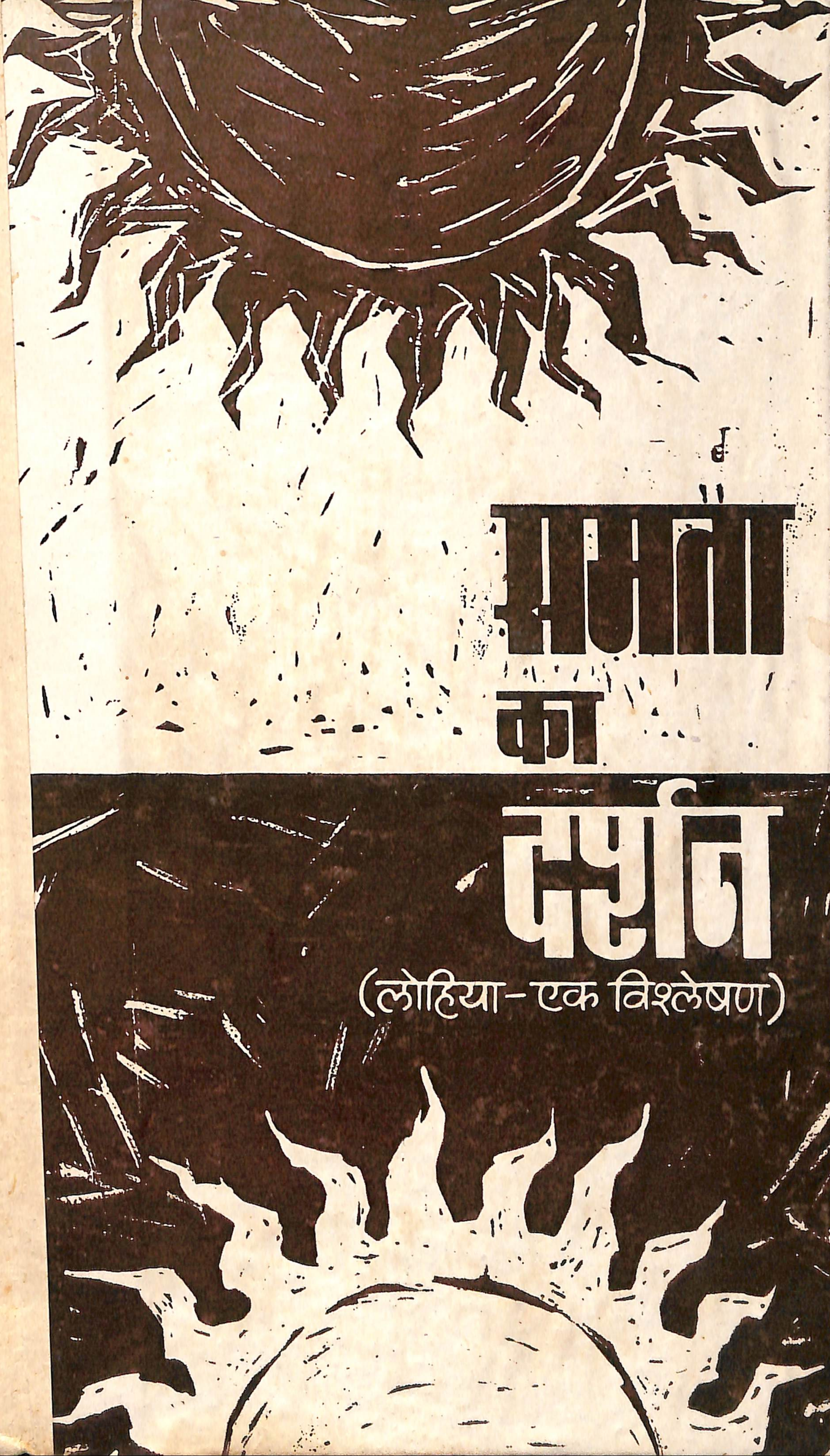


समता का दर्शन

(लोहिया - एक विश्लेषण)



समता का दर्शन

(लोहिया-एक विश्लेषण)

समता का दर्शन

(लोहिया — एक विश्लेषण)

संपादक

गणेश मंत्री : विश्वनाथ

समता अध्ययन केंद्र,

गोरेगांव, बंबई — ६२.

अक्तूबर, १९७२

मूल्य : पांच रुपये

आवरण : शब्बीर दीवान

प्रकाशक : हेनरी नोरोन्हा,
समता अध्ययन केंद्र,
मंगलकारिणी,
गोरेगांव, बंबई–६२.

मुद्रक : राघोबा म्हात्रे,
रचना प्रिंटर्स,
माहीम, बंबई–१६.

अ नु क्र म

समता अध्ययन केंद्र

समता अध्ययन केंद्र का उद्देश्य है सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था की जांच–पड़ताल करना और उसके आदर्श भविष्य को खोजना।

बराबरी, लोकशाही, समाजवाद और सामाजिक–आर्थिक क्रांति समता अध्ययन केंद्र के रचनात्मक आदर्श हैं।

केंद्र गैरबराबरी के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के साथ अपने रचनात्मक आदर्शों में सहायक प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का विश्लेषण करेगा।

वह विचारगोष्ठियों, परिसंवादों और सभाओं का आयोजन करेगा और छोटी–बड़ी पुस्तकें, पत्रिकाएं और स्मरणिकाएं प्रकाशित करेगा।

यह प्रयास

आजादी के पच्चीस बरस। देश के शासकों की शाही सवारी! नेताओं, अफसरशाहों और दौलतशाहों के तिगड्डे की शान–शौकत, रंगीनियां, फिजूल–खर्चियां! साथ में यह खुशफहमी भी कि ये सारे शान के खर्चे उनके अपने लिए नहीं हैं, बल्कि देश की प्रतिष्ठा, उसकी बढ़ती हुई अधुनिकता के प्रदर्शन के खर्चे हैं। चारों ओर से लपलपाते अंधेरे समंदर के बीच टिमटिमाती रोशनियों का यह टापू है। यहां जयघोषों और नारों का शोर है। साल दर साल अंधेरा समंदर टापू को धीरे–धीरे लीलता जाता है, लेकिन उसी रफ्तार से टापू पर नारों का शोर भी बढ़ता जाता है—सहकारी समतावादी समाज, जनकल्याणकारी राज्य, समाजवादी ढांचे का समाज, और अब तो सीधा समाजवाद! निखालिस 'गरीबी हटाओ' मार्का समाजवाद!

देश के इस शासक वर्ग के राजसिंहासन के नीचे दबा आजादी का दूसरा पहलू। पच्चीस बरसों में नारों के शोर के बोझ से दबा देश का सबसे अदना, सबसे छोटा, सबसे मामूली आदमी—हमारी लोकशाही की बुनियादी इकाई। अक्सर यह इकाई या तो अपनी रोजमर्रा की जिंदगी की कशमकश में उलझ कर राजनीति से तटस्थ रही है, या फिर प्रचार–विज्ञापन के तंत्र की शिकार होकर सत्ताधीशों की शान से हतप्रभ रही है। उनकी रंगीनियों, फिजूलखर्चियों को देख–देख कर मामूली आदमी का भी मन हुलसता रहा है। उसे लगता रहा है कि आसपास का अंधेरा जैसे सिमट कर दुबक रहा है और देश में संपन्नता खुशहाली का दायरा धीरे–धीरे बढ़ रहा है। ऐसे में शासकों की खुशफहमियां देश के शासितों की भी खुशफहमियां बन जाती हैं। शासित भी सोचने लगते हैं कि आज नहीं तो कल यह दुख और दरिद्रता, गरीबी और गैरबराबरी, भूख और बीमारी, जुल्म और जहालत का दहाड़ें मारता अंधेरा समंदर पीछे हटेगा— यह टिमटिमाती रोशनियों वाला टापू फैलेगा। टापू फैले या न फैले, लेकिन कहीं न कहीं, इस समंदर की भयामक लहरों की पकड़ से परे, भले ही टापू की तलहटी में ही सही, थोड़ी-बहुत जगह तो

अपने लिए भी मिल ही जायेगी। इन्हीं सब झूठी दिलासाओं की बेड़ियों में घिसटता हुआ यह सबसे छोटा आदमी जाने कब जोश में आ जाता है और पेट में बजती अंतड़ियों का दर्द भूल कर शासकों की शाही सवारी में शामिल हो जाता है। वह मध्ययुगीन सामंतों का यश गाने वाले बंदियों की तरह हाथ बांधे, जुलूस में आगे-आगे चलता है। ऐसी हालत में सरकारी लोग गलत नहीं कहते कि भारत में लोकतंत्र का प्रयोग पूर्ण सफल रहा है—अपूर्व, महानतम, विराटतम!

लेकिन महानता और विराटता के सारे विशेषणों से परे लोकतंत्र सिद्धांत है समता का—उन्नीसवीं सदी के परंपरागत अर्थ में सभी नागरिकों के बीच राजनीतिक-कानूनी समता का, लेकिन आज के व्यापक और अधिक संगत अर्थ में सामाजिक-आर्थिक समता का भी। सामाजिक-आर्थिक समता के बिना स्वतंत्रता का अर्थ क्या? स्वतंत्रता और समता के बिना भाईचारा किनका, किनसे? यदि आज का राष्ट्र-राज्य परिवार का क्रमिक विस्तार है, तो फिर एक ही देश-मां के बेटे-बेटियों में अपार अमीरी और नितांत गरीबी की खाई क्यों? लेकिन लोकतंत्र की इन बुनियादी कसौटियों पर ही तो हमारे देश के लोकतंत्र के महानतम, विराटतम, अपूर्व प्रयोग के तामझाम की असलियत का भेद खुलता है। हर पांच या तीन-चार साल बाद किसी न किसी तरह के चुनावों, लिखने-बोलने की कथित आजादी, संगठन-संस्थाएं बनाने के अधिकारों के संवैधानिक अनुच्छेदों के पार छिपी वास्तविकता क्या है? यह वास्तविकता है गरीबी की बेहद नीची सरकारी रेखा से भी नीचे जीनेवाले चालीस पचास फी सदी लोगों की, जिनको रोटी-रोजी तो दूर ताकतवरों के अमानुषिक जुल्मों तक से संरक्षण मयस्सर नहीं है। यह वास्तविकता है गांवों के खेत-खलिहानों में पशु से भी बदतर हालत में मेहनत कर के अनाज उपजाने वाले, लेकिन खुद भूखे रहने को मजबूर करोड़ों खेत मजूरों की। यह वास्तविकता है हजारों सालों से जातिप्रथा के क्रूर चक्र के नीचे कुचले गये हरिजनों, नवबौद्धों और पिछड़ी जातियों के लोगों की, जिनकी आज भी हैजा भगाने या देवी को खुश करने के लिए जब-तब बलि ही दी जा सकती है। यह वास्तविकता है हजार-आठ सौ साल के अपने दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास की गांठों में उलझे उन हिंदू-मुसलमानों की, जिनकी धर्मांधता को भड़का कर जब-तब नृशंस सांप्रदायिक दंगों की आग दहकायी जा सकती है। यह वास्तविकता है देश की करोड़ों औरतों की, जो बराबर की नागरिक होकर भी घर और बाहर की सारी क्रूरताओं को झेलने को बेबस हैं। यह वास्तविकता हैं उन नये पढ़े-लिखे, लेकिन बेजुबां लोगों की, जिनकी मातृभाषाओं को उनके अपने ही घर में दबा कर अंग्रेजी देश के सत्ता-प्रतिष्ठान पर कुंडली मार कर बैठी है। और यह वास्तविकता है देश के निम्न मध्यमवर्ग की, जो दबे-कुचले आदमी

का सगा होते हुए भी उससे मुंह फेर कर अपने से बड़ों की चापलूसी और चाटुकारी के सहारे अपनी जिंदगी संवार लेने की खुशफहमियों में जी रहा है—ठीक वैसे ही जैसे मातृभाषाओं का बौद्धिक अपनी खुद की मिट्टी से उखड़ कर अंग्रेजीपरस्तों की भोंड़ी नकल में होड़ बद रहा है।

कौन खुली आंखोंवाला आदमी इस वास्तविकता को नहीं देख पा रहा है ? और कौन संवेदनशील मनुष्य इन सारी वास्तविकताओं को देखते हुए भी जड़, निष्क्रिय बैठा रह सकेगा ? यदि सत्ता-प्रतिष्ठान से उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं जुड़ा है, तो उसे कहीं न कहीं अपने विचार और कर्म को इन वास्तविकताओं की ओर मोड़ना ही पड़ेगा। देश की आजादी की इस चौथाई सदी में जिन लोगों ने अपने विचार और कर्म को इन जीती-जागती सचाइयों की ओर मोड़ कर सबसे अदने आदमी के दर्द में अपना दर्द देखा, उनमें राममनोहर लोहिया अग्रणी रहे हैं। अपने लचीले दिमाग, प्रखर चिंतन, कठोर संकल्प, अथक संघर्ष और निरंतर क्रियाशीलता के साथ लोहिया, मृत्यु के अंतिम क्षण तक, देश के सबसे छोटे आदमी की जिंदगी की वास्तविकताओं और उसके भविष्य की संभावनाओं को उजागर करते रहे। वे वास्तविकताएं, जिनको दबाने के लिए सत्ताशाहों ने दुनिया भर से जाने कितने प्रमाणपत्र बटोरे हैं और जिनको छिपाने के लिए सरकार-नियंत्रित अखबार और प्रचार के दूसरे साधन खोखले शब्दों के खूबसूरत पर्दे बुनते रहे हैं ! यह सच है कि लोहिया के बाद एक बार फिर खूबसूरत पर्दों का कारखाना जोरों पर है। यह भी सच है कि जो संगठन और शक्ति लोहिया ने विरासत में छोड़ी, वह आज बिखराव और कलह के खतरनाक दौर में से गुजर रही है। परंतु शब्द अर्थों के वाहक होते हैं और राजनीतिक शक्ति-संगठन सामाजिक-आर्थिक वास्तविकताओं को अभिव्यक्त करते हैं। इसी लिए हताशा की इस हालत में भी आशा अमर है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विषमताओं और क्रूरताओं के कुचक्र में उलझे देश और मनुष्य के पास आज के दुख और दारिद्रय से मुक्ति का एक ही मार्ग है—समता का दर्शन, दर्शन ही नहीं समता के लिए निरंतर संघर्ष और जीवन में उसका आचरण भी। स्मरणिका में संकलित निबंध एक सीमा तक राममनोहर लोहिया के समता-दर्शन के कुछ पहलुओं का विश्लेषण और विवेचन करते हैं। एक सीमा तक ही, क्योंकि लोहिया जैसे समग्र व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए इससे कहीं अधिक समर्थ और सघन प्रयास चाहिए। हमें उम्मीद करनी चाहिए कि देर-सबेर इस तरह के समर्थ अध्ययन में सक्षम लोग और संगठन आगे आयेंगे। लेकिन तब तक हर छोटे कदम का भी अपना महत्व है, शायद वह बाद में भी रहेगा।

बहुत हद तक यह स्मरणिका गहरी निराशा के बीच भी जीवित रहने की इच्छा का परिणाम है। गोरेगांव। बंबई का एक उपनगर। विधानसभाओं के मध्यावधि

चुनावों के बाद समाजवादियों के बिखराव से दुखी कुछेक कार्यकर्ता। कोई बड़ा नाम नहीं, लेकिन अपने-अपने मुहल्ले-गली में जागरूक रह कर लोगों के दुख-दर्द में हिस्सा बंटाने की छोटी राजनीति करने वाले लोग। ऐसे ही लोगों को लोहिया ने आनेवाले कल के नेता कहा था। वे कई बार मिलते हैं, बहस करते हैं, गुस्सा होते हैं, एक दूसरे को कोसते हैं, लेकिन फिर-फिर मिलते हैं। एक झुंझलाहट कि कोई रास्ता नहीं दिखता, क्या करें, कैसे करें, किधर जायें ? इसी सबके बीच से पनपता है समता अध्ययन केंद्र का विचार। रोजमर्रा की राजनीति के बीच वापस अपनी जड़ों को खोजने, शोधने की तैयारी। पहला निर्णय—यह स्मरणिका। इसका प्रकाशन संभव नहीं होता यदि रामनंदन मिश्र जैसे बुजुर्ग से लेकर सभी पीढ़ियों और खेमों के लेखक मित्रों ने स्नेह के साथ इस प्रयास में सहयोग नहीं दिया होता। अधिकतर लेखकों ने हमारे आग्रह पर नये निबंध लिखे। जो चाह कर भी नये नहीं लिख पाये उन्होंने अपने पूर्व प्रकाशित महत्वपूर्ण निबंधों के पुनर्प्रकाशन की सहमति दी। इस लेखकीय सहयोग के समानांतर ही चला स्मरणिका के प्रकाशन के लिए आवश्यक धन जुटाने का काम। हेनरी नोरोन्हा, आर. यू. शेट्टी, के. पी. प्रभु, केशवराम आर्य, बापु जोशी, श्रीरंग साबड़े, अप्पा साने, हिम्मत जवेरी, जसवंत देसाई, गुरुनाथ सापळे, मोतीलाल अग्रवाल, श्रीमती कमल देसाई, विष्णु माहेश्वरी, अविनाश लड्ढा, टी. आर. राव, तेलंग और दूसरे सहयोगियों ने ये आवश्यक साधन जुटाये। श्रीमती मृणाल गोरे और बाबूराव सामंत के परामर्श और प्रोत्साहन का जिक्र करना महज औपचारिकता होगी, जो उन्हें पसंद नहीं।

समता अध्ययन केंद्र छोटे आदमियों का छोटा प्रयास है। यह स्मरणिका उस प्रयास की एक कड़ी है। अगली कड़ियां गैरबराबरी, भाषा, जाति, रंगभेद, आमदनी-खर्च पर सीमा, चौखंभा राज्य जैसे ठोस प्रश्नों पर परिसंवाद, विचार गोष्ठियों पुस्तक पुस्तिकाओं के प्रकाशन के रूप में होगी। हमें उम्मीद करनी चाहिए कि दूसरे अच्छे कामों की तरह यह काम भी आलस्य और अकर्मण्यता का शिकार बन कर नहीं रह जायेगा। समता के दर्शन के प्रचार-प्रसार का काम आगे बढ़ेगा, यद्यपि उसमें पूरी ताकत तभी आयेगी, जब उसके साथ इन विचारों के लिए संघर्ष और यातना के रास्ते पर चलनेवालों की संख्या और संगठित शक्ति बढ़ेगी।

— संपादक

दिशा-दृष्टि

समता का अर्थ*

● राममनोहर लोहिया

समता का पक्ष इससे पहले पूरी व्यापकता के साथ नहीं रखा गया है। दूसरे शब्दों में कहें, तो समता के संपूर्ण अर्थ की पर्याप्त छानबीन नहीं की गयी है। संभवतः समता भी जीवन का उतना ही महान लक्ष्य है, जितना सत्य या सौंदर्य, पर इस लक्ष्य की धीरज से छानबीन नहीं हो सकी है। रोजमर्रा के जीवन, संपत्ति तथा आमदनी और समाज की सामान्य व्यवस्था पर इस लक्ष्य के प्रत्यक्ष और तात्कालिक परिणाम गहरे तथा अनेक हैं। असल में लड़ाई का कोलाहल शांत ही नहीं होता और न ही उसका गर्द-गुबार हट पाता है कि समता की पूरी तरह से और धीरज के साथ जांच हो सके।

आदमी के कुछ किस्मों के अनुभवों ने भी जीवन के एक महान या सबसे महान लक्ष्य के रूप में समता की संभावनाओं को धुंधला करने की कोशिश की है। स्वतंत्र व्यक्ति मुनाफे के लालच में कुशलता से काम करते हैं। मजदूर बर्खास्तगी के डर से, या फिर लालच और डर का मेल करनेवाली किसी व्यवस्था के कारण, कुशलता से काम करते हैं। जो भी व्यवस्थाएं अपनी गतिशीलता और विकास के लिए लालच और डर पर निर्भर करती हैं, वे लाजिमी तौर से विषमता या गैरबराबरी पैदा करती हैं। इसीलिए यह मान लिया गया है कि विषमता तो मनुष्य का स्वभाव ही है। पूंजीवाद, अगर वह सड़ नहीं रहा है तो विषमता को ही मनुष्यता कह कर उसकी महिमा बखानता है। डर और लालच के अब तक कोई संतोषप्रद विकल्प नहीं मिल पाये हैं। नैतिक उपदेशों या मनुष्य के स्वभाव में परमार्थी क्रांति होने की उम्मीदों से भी समता के लक्ष्य की छानबीन और जांच पड़ताल का काम उतना ही बिगड़ा है, जितना कि अविवेक, अदूरदर्शिता और संकीर्ण स्वार्थ के कारण समता के लक्ष्य की निंदा करने से। जब जीवन के महान लक्ष्य की ओर

---

*मैनकाइंड (नवम्बर, १९५६) में प्रकाशित लंबे निबंध का संक्षिप्त रूपांतर !

उसे प्राप्त करने के सर्वोत्तम उपायों के मौलिक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा हो, तब समता के मनुष्य स्वभाव के अनुकूल होने या न होने का प्रश्न गौण हो जाता है।

जीवन के सभी महान लक्ष्य किसी न किसी तरह से मृत्यु के बाद के अस्तित्व की कल्पना से जुड़ जाते हैं। असल में आदमी के छोटे से जीवनकाल की उपलब्धियां इतनी क्षणिक होती हैं और जीवन में दुख और संताप की उथल-पुथल इतनी अधिक रहती है कि मृत्यु के बाद की स्थिति की कल्पना से आदमी को राहत मिलती है, उम्मीद बंधती है और एक मकसद भी दिखने लगता है। दुनिया के सबसे ज्यादा संवेदना जगानेवाले शब्द स्वर्ग के सुख य नर्क के दुख के साथ जुड़े हुए हैं। जीवन के किसी भी महान लक्ष्य में इस तरह की संवेदना जगाने की क्षमता होनी ही चाहिए। अब तक किसी भी कवि ने आत्मा की अमरता के गीत से महान गीत नहीं गाया हैं। कुछ इतनी ही महान कविता सृष्टि की अनश्वर एकता या इससे मिलते-जुलते विषय को लेकर रची गयी है। लेकिन मृत्यु के बाद या तो स्वर्ग में या मुक्ति के फलस्वरूप आनंदमय स्थिति की संभावना इस तरह के काव्य और दर्शन में हमेशा मिली हुई रही है। व्यक्ति के स्वर्ग की अपेक्षा अवैयक्तिक मुक्ति मृत्यु के बाद की कहीं अधिक संतोषप्रद परिणति है। लेकिन तब प्रश्न उठता है कि यदि बिना नाम का शून्य ही सब-कुछ है, तो फिर सचाई और भलाई जैसे जिंदगी के बड़े मकसदों की जरूरत क्या है? इस उलझे हुए सवाल का थोड़ा-बहुत उत्तर सोचा गया है।

मृत्यु के पश्चात मुक्ति की धारणा ने जीवन में मुक्ति की पूरक धारणा को जन्म दिया है। मृत्यु के पश्चात उसी की मुक्ति होगी, जो जीवन में पहले से ही मुक्त हो चुका है। मृत्यु के बाद किसी तरह का अस्तित्व माननेवाले और उससे इंकार करनेवाले, सब कोई इस बात पर तो सहमत हो ही सकते हैं कि जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है मृत्यु को अच्छी तरह झेलने में समर्थ होना। मृत्यु के लिए इस तैयारी का लाजिमी अर्थ यह है कि आदमी जीवन को विलक्षण ढंग से जिये यानी निम्नतम स्तरों पर उसे पश्चाताप न हो और उच्चतम स्तरों पर उसे परम आनंद और सुख की प्रखर अनुभूति हो। क्या इस तरह का जीवन समता के सर्वोपरि सिद्धांत के बिना जिया जा सकता है? जब कवियों ने सृष्टि की अनश्वर एकता के गीत गाये, तब वे दो खोजों से रोमांचित थे। एक तो यह कि संपूर्ण सृष्टि एक-खंड है और इस लिए उसका हर अंश दूसरे के बराबर है। दूसरे, सृष्टि का हर अंश संपूर्ण सृष्टि के सहवर्ती होने का आनंद ले सकता है। आनंद की स्थिति तक पहुंचनेवाले सभी लोगों ने न सिर्फ दूसरे मनुष्यों जैसा बनना चाहा है, उन्होंने यह भी चाहा है कि काश वे वृक्ष होते, जिनकी स्फूर्ति हवा के साथ निरंतर बढ़ती जाती है या वे मां के

साथ उछलते-कूदते मेमने होते, या वे तारे बन पाते, जिनकी टिमटिमाहट, जितना रहस्य को गहरा करती है, उतना ही उसे खोलती भी जाती है। तर्क समझ-बूझ का एक ताकतवर औजार है, लेकिन इतना ही शक्तिशाली औजार एकात्मता और समता का सीधा और सहज बोध भी है। यह सही है कि वृक्ष या तारा बनने की इच्छा का जब तर्क से कोई रिश्ता नहीं रहता, तो वह निरर्थकता की ओर ले जा सकती है, लेकिन समता के काव्य से हमेशा के लिए अलहदा रख कर की गयी कोई ऐकांतिक तर्क की कोशिश भी क्रूरता की ओर ले जा सकती है। सृष्टि की अनश्वर एकता का बोध मनुष्य को मिल सकनेवाली सबसे बड़ी खुशी है और इस संदर्भ में समता मन की एक आवश्यक दशा प्रतीत होती है।

स्व का इतना विस्तार किया जाये कि वह सारी सृष्टि के प्रति संवेदनशील हो कर उससे जुड़ जाये या इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्व को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाये, यह तो गौण प्रश्न है, जिसका संबंध तरीके से है। मुख्य बात तो है सृष्टि के साथ एकात्म होने का आनंद, उसकी हर चीज के साथ समता अनुभव करने का सुख। इस तरह का आध्यात्मिक और भावात्मक भाईचारा जीवन के महान लक्ष्य के रूप में समता की विशेषता है। यह भाईचारा कुटुंब में होता है। यह करीब-करीब संपूर्ण भौतिक समता पर आधारित होता है। भोजन और वस्त्र के मामले में परिवार एक ठोस इकाई होता है, जो अपने सभी सदस्यों की आवश्यकताएं समान रूप से पूरी करता है, भले ही उनकी आमदनी जो कुछ भी हो, या जैसा कि बूढ़े माता-पिता और बच्चों के संबंध में होता है, वे कुछ भी नहीं कमाते हों। कुटुंब में ऐसे ही निष्कलंक भाईचारे की जरूरत होती है। माता-पिता और बच्चों, पति और पत्नी, भाइयों और बहनों तथा संयुक्त परिवार के ऐसे ही दूसरे रिश्तों के बीच करीब-करीब संपूर्ण एकता और संपूर्ण समता आवश्यक होती है। इसीसे करीब-करीब संपूर्ण समर्पण और त्याग संभव हो पाता है। अधिकतर मामलों में तो यह बिना पूर्वविचार के और सहज प्रवृत्ति से होता है। किसी कुटुंब में यह भाईचारा जितना कम होता जाता है, कुटुंब के रूप में उसकी विशेषता भी उतनी ही कम होती जाती है। आध्यात्मिक समता और भौतिक समता का यह निकट का सादृश्य और इस पर आधारित सुख, कम से कम कुटुंब के सीमित दायरे में तो, मनुष्य स्वभाव का ही अंग है। परंतु इस भाईचारे को संपूर्ण मानव कुटुंब तक फैलाने की कोशिश अभी तक सफल नहीं हुई है। वह हमेशा स्वार्थ की चट्टान से टकरा कर बिखर गयी है। यह स्वार्थ अपने-अपने कुटुंब के दायरे में तो उदार रहता है, लेकिन मानव कुटुंब की विशालता के आगे संकीर्ण हो जाता है।

ईश्वर की संतान और मनुष्य के भाईचारे की बातें उपदेश ही हैं। वे अभी मनुष्य के स्वभाव में नहीं उतरी हैं। ज्यादा से ज्यादा वे नैतिक अनुरोध हैं।

मनुष्य की भावनाओं में उनका कोई आधार नहीं हैं। आज की मानवीय स्थिति में उनका यह आधार बन भी नहीं सकता। जब राष्ट्रों के बीच और राष्ट्र के भीतर भौतिक गैरबराबरी इतनी व्यापक हो कि वह व्यक्ति के सामर्थ्य के बाहर हो जाये, तब व्यक्ति की अंतरात्मा भी लचीली हो कर अपने आपको इसके अनुरूप बदल लेती है। मनुष्य यह बहुत कम महसूस कर पाते हैं कि उनकी अंतरात्मा किस हद तक उनकी अपनी आदतों, दिनचर्या तथा शरीर के सुखों से जुड़ी होती है। एक सतत सजग अंतरात्मा की उदारता आत्महत्या की स्थिति तक पहुंच जायेगी। पिछड़े हुए देशों की अथाह दरिद्रता और दुख के बीच वह विश्वव्यापी भाईचारे के दबावों को बर्दाश्त ही नहीं कर पायेगी। ऐसी हालत में अंतरात्मा को या तो अकेले मरना होगा या फिर वह शरीर के साथ मर जायेगी। इसी तरह से गोरे लोगों और रंगीन लोगों के बीच विषमता इतनी ज्यादा है कि मनुष्य जाति के भाईचारे की बात करना हास्यास्पद है। इस तरह की विषमताओं का सामना मनुष्य का दिमाग अपने सामान्य ढंग से ही करता है। उसके कुछ हिस्से में रोशनी होती है और कुछ में अंधेरा, जिससे वह जीवन की आदतन दिनचर्या से मेल बैठा लेता है। किसी यूरोपीय को संभवतः इस विचार मात्र से धक्का लगेगा कि कोई दूसरा यूरोपीय उसे रिक्शे में बिठा कर खींचे, लेकिन वही यूरोपीय किसी एशियाई द्वारा खींचे जानेवाले रिक्शे पर चढ़ने के पहले थोड़ा भी नहीं झिझकेगा। प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति आधा लिटर औसत दूध की खपतवालों और प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति एक चम्मच से भी कम दूध पर संतोष करनेवालों के बीच कोई भाईचारा नहीं हो सकता। इसके लिए नैतिक अनुरोध से कहीं अधिक मौलिक तत्वों को सक्रिय करना पड़ेगा, ऐसे तत्व, जो व्यक्ति और समाज को आंदोलित करते हैं।

मनुष्य जाति के भाईचारे से अलग, इस आंदोलन की एक झलक राष्ट्रीय भाईचारे के क्षेत्र में देखी जा सकती है। यहां स्वाभिमान, सम्मान और आहत राष्ट्रीयता की भावनाएं सक्रिय होती हैं। ये अपेक्षाकृत स्वार्थी भावनाएं एक ऐसा भाईचारा स्थापित कर देती हैं, जो नैतिक ज्ञान से हासिल नहीं हो पाता। किसी कोढ़ी या भिखारी, किसी फटेहाल या बिल्कुल कमजोर आदमी को देख कर हो सकता है कि उसी देश के अधिक भाग्यशाली आदमी के मन में भाईचारा नहीं जागे, पर उसे देख कर उसका गुस्सा, घमंड और इस मामले में कुछ न कुछ करने की इच्छा जरूर जागती है। यह अलग बात है कि यह बड़ा आदमी इतना घृणित और नितांत स्वार्थी हो गया हो कि इस तरह की हालत पर उसे कोई शर्म ही नहीं महसूस हो। स्वार्थ, घमंड या चोट की भावना के चोर दरवाजे से हासिल किया गया यह राष्ट्रीय भाईचारा कभी कभार ही सभी रंगीन कौमों के बीच एकता की भावना का रूप ले

पाता है। दुनिया के सभी गोरे या रंगीन गरीब और दबे लोगों के बीच एकता की यह भावना तो और भी कम मिलती है।

यह इसलिए भी मुमकिन है कि मनुष्य जाति के भाईचारे की भावना अब तक नीति और नैतिकता की अपेक्षाकृत कमजोर नींव पर ही टिकी रही। जीवन के महान लक्ष्य में गड़ी हुई नींव शायद अधिक मजबूत आधार दे पाती। सत्य या सौंदर्य जैसा जीवन का महान लक्ष्य, जितना अवैयक्तिक होता है, उतना ही वैयक्तिक भी। वह मनुष्य को उथल-पुथल करनेवाले कामों के लिए प्रेरित कर सकता है। वह उसे अपना स्वयं का पूरी तरह नवीकरण करने के लिए भी प्रेरित कर सकता है। इसी प्रकार से सृष्टि की एकता और इसके सभी हिस्सों की समता के बोध का महान लक्ष्य, जब नैतिक आचरण के क्षेत्र तक सीमित रखा जाता है, तो उसका विकास रुक सकता है और वह अपेक्षाकृत फिजूल बन सकता है। लेकिन अगर इसे आध्यात्मिक क्षेत्र में समेट लिया जाये, तो यह व्यक्ति का नवीकरण कर सकता है और समाज में विस्फोट पैदा कर सकता है।

यह ताज्जुब की बात है कि पुराने जमाने में सृष्टि की अनश्वर एकता की बात तो सोची गयी, लेकिन उसके साथ मनुष्य जाति के भीतर भौतिक एकता की बात नहीं सोची गयी। एकता का आनंद भाईचारे की भावना के बिना असंभव है। भाईचारे की भावना, कम से कम उसकी पूर्ण संभावनाओं की सीमा तक, भौतिक समता के बिना असंभव है। उस पुराने समय में जब मनुष्य ने सृष्टि की एकता के गीत गाये, संपत्ति की गैरबराबरी इतनी स्पष्ट नहीं थी। तब आज जितनी गरीबी भी नहीं रही होगी, शायद इसलिए कि आबादी कम थी और जमीन ज्यादा थी। किसी भी हालत में अपने जैसे दूसरे मनुष्यों के साथ भावात्मक भाईचारा, यदि उसकी जड़ें भौतिक समता में नहीं हैं तो, असंभव है।

एक निर्गुण और सामान्य सिद्धांत के रूप में समता का अर्थ सिर्फ एक वातावरण, एक भावना और शायद यह इच्छा हो सकती है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच की सभी व्यवस्थाएं—राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक—समान हों। किसी मामले में व्यवस्था की समानता का क्या अर्थ होगा, यह उस व्यक्ति की इच्छा और सपने पर निर्भर करता है। सपने दुधारे होते हैं। हो सकता है कि उनका असलियत से कोई लेना देना न हो। लेकिन दूसरी तरफ वे आदमियों को हिला सकते हैं और उनकी समाज व्यवस्था में विस्फोट पैदा कर सकते हैं। मुख्य बात यह है कि समता जब वह ठोस रूप में नहीं रखी जाती, तो वह एक हवा, एक भावना, एक इच्छा, या एक सपना होती है।

मनुष्य का पिछले चार सौ साल का इतिहास यूरोप का इतिहास रहा है। इतिहास में हमेशा ऐसी स्थिति रही है, जब मनुष्य जाति के एक हिस्से का बाकी हिस्से पर प्रभुत्व रहा है और उस हिस्से का इतिहास मनुष्यता का इतिहास बन गया है। पिछले चार सौ सालों में यूरोप की जिंदगी के विभिन्न क्षेत्रों में समता का बहुत स्पष्ट आंदोलन रहा है, कानूनी से सामाजिक और राजनीतिक समता को हासिल करते हुए यह आंदोलन आज के आर्थिक समता के दौर में पहुंचा है।

कानूनी समता का अर्थ है कानून के सामने समता। न्यायालय में न्यायाधीश से यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह दो आदमियों के सामाजिक रुतबे का फर्क मान्य करेगा। वह उनकी सामाजिक स्थिति का भेद किये बिना एक ही कानून लागू करता है। उदाहरण के लिए चोरी का कानून सभी लोगों पर एक-सा लागू होता है। मुमकिन है कि कुछ स्थितियों में धनी आदमी चतुर वकील की सलाह ले कर संदेह का लाभ पा जाये, यद्यपि न्यायाधीश बहुत सावधान हो सकता है।

एक बार कानूनी समता स्थापित हो गयी, तो फिर राजनीतिक समता का दौर आया। राजनीतिक समता का अर्थ है बालिग मताधिकार की समता। अभी कुछ ही पहले तक मताधिकार संपत्ति और पढ़ाई-लिखाई की योग्यताओं के साथ बंधा हुआ था और औरतों को तो मताधिकार बिल्कुल हाल में ही मिला है। कुछ देशों में, जिनको वैसे आगे बढ़े हुए देश कहा जायेगा, अभी भी औरतों को मताधिकार नहीं है। जो भी हो, सामान्य रूप से मनुष्य कानूनी समता से राजनीतिक समता की ओर बढ़ा है।

राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर में वृद्धि के अर्थ में आर्थिक समता सभी विचारधाराओं का सामान्य तत्व बन गयी है। यूरोप का हरेक आदमी बेहतर जीवन स्तर की आकांक्षा रखता है। यूरोप और अमरीका में आर्थिक समता के व्यवहार का एक नमूना घरेलू नौकरों की हालत में देखा जा सकता है। कानून के अनुसार एक घरेलू नौकर के पास उसका अपना एक कमरा होना चाहिए। पश्चिम यूरोप के देशों में घरेलू नौकरों को आराम करने और निजी जीवन की गोपनीयता का कानूनी अधिकार है। पश्चिम यूरोपीय देशों की राजधानियों में पुरुषों और स्त्रियों की पोशाक और चेहरों को देख कर कोई व्यक्ति उनके वर्ग को नहीं जान पायेगा। ऐसी स्थिति आ गयी है, जहां वे थोड़ी दूर से एक जैसे लगते हैं। राष्ट्रीय सीमाओ में न्यूनतम भोजन, न्यूनतम वस्त्र और एक अर्थ में न्यूनतम आवास जैसी जीवन की बुनियादी जरूरतों की दृष्टि से यूरोपीय लोगों को इस तरह समता का आधार प्रदान किया गया है।

समता का सामान्य सिद्धांत एक वातावरण है, एक इच्छा, एक सपना, जिसे एक सुनिश्चित अर्थ के साथ इस या उस तरह की ठोस बराबरी, सगुण समता की शक्ल दी जाती है, जैसे कानून के सामने समता, भोजन में सरकारी सहायता की समता, नौकर के पास घर, बच्चों का भत्ता, बेरोजगारी का भत्ता, वृद्धावस्था की पेंशन इत्यादि। ये सब समता के सगुण विचार हैं, ठोस बराबरी, अमल में कल्याणकारी राज्य। भारत में कल्याणकारी राज्य की बातें करनेवाले लोग जानते तक नहीं कि इसका अर्थ क्या है!

पहले हम निर्गुण समता के सपने और किसी देशकाल में मौजूद सगुण समता के रिश्ते की जांच पड़ताल करें। सामान्य सिद्धांत के रूप में समता की कोई भी बात, उसके साथ जुड़े किसी ठोस अर्थ के बिना या तो पाखंड होती है या दिमागी सुस्ती। ठीक वैसे ही, किसी एक सूत्र तक सीमित रहनेवाली बराबरी की बात यथास्थिति को बनाये रखती है। उदाहरण के लिए भारत में समाजवादी आंदोलन ने यह निश्चित किया है कि न्यूनतम और अधिकतम आमदनियोंका अनुपात १ और १० से अधिक न हो। इस तरह के किसी निश्चित अनुपात के बिना सामान्य समता की बात या तो पाखंड होगी या दिमागी आलस। इससे आदमी के दिमाग में निर्गुण और सगुण के दो ऐसे अलग-अलग खाने बन जायेंगे, जिनका एक दूसरे से कोई संबंध नहीं रहेगा। परंतु १ और १० का सिद्धांत भी स्थायी और हमेशा लागू रहनेवाला सिद्धांत नहीं मानना चाहिए। नहीं तो दिमाग के अंधविश्वासी होने और पिटी हुई लीक पर चलने की भयानक संभावना रह जायेगी। समता के लिए संघर्ष से आरंभ होनेवाले सभी महान धार्मिक संप्रदाय समय के साथ रस्मों और रीति-रिवाजों से जड़ हो गये। कोई भी क्रांतिकारी इसी तरह से जड़ विचारों का शिकार होता है। भौतिक समता को स्वीकार करनेवाला दिमाग काफी लचीला होना चाहिए, जिससे वह अधिकाधिक सामीप्य की ओर बढ़ सके; आगे अनुपात और भी कम किया जा सके।

निर्गुण और सगुण के संबंध को इस तरह से समझना चाहिए कि असलियत से रिश्ता नहीं टूटे और न ही सगुण की अपेक्षाएं इतनी कम रखी जायें कि लक्ष्य हमेशा के लिए दूर की मंजिल बनी रहे। आर्थिक समता के आदर्श को हासिल करने के लिए राज-कौशल के एक ऐसे सगुण सिद्धांत की आवश्यकता है, जो संजोये हुए लक्ष्य की अधिकाधिक और तुरंत उपलब्धि पर आधारित हो। यदि कोई व्यक्ति वर्तमान स्थिति में ही डूबा रहता है, तो वह दकियानूस या प्रतिगामी हो जाता है; यदि कोई

व्यक्ति हासिल नहीं हो सकनेवाला लक्ष्य बनाता है, तो वह निरर्थक हो जाता है। आदर्शवाद पागलपन की सीमा तक पहुंचता है, लेकिन व्यावहारिकता भी प्रतिगामिता की हद तक जाती है। कभी-कभी आदर्शवादी होने का अर्थ पागल होना हो सकता है, ठीक वैसे ही जैसे व्यावहारिक होने का अर्थ है प्रतिगामी होना।

इस संबंध में दकियानूस लोग अक्सर चालाकीभरी लफ्फाजी इस्तेमाल करते हैं। वे कहते हैं कि हम किसी को नीचे गिरा कर नहीं, सबको ऊपर उठा कर बराबर करना चाहते हैं। वे समाजवादियों पर नीचे से बराबर करना चाहने का आरोप लगाते हैं। असल में समता के किसी भी कार्यक्रम में, ऊपर और नीचे, दोनों तरफ बराबर करने की बात होनी चाहिए। वस्तुतः नीचे से बराबर करने का काम ऊपर से बराबर करने की बजाय थोड़ा पहले होगा, यद्यपि यह नहीं टाला जा सकने-वाला समय का सिलसिला दिमाग में तर्क के सिलसिले में नहीं बदलना चाहिए। जो लोग कार्यक्रम के दूसरे पहलू के बिना सिर्फ एक पहलू की बात करते हैं, वे या तो दकियानूस हैं या फिर पागल। केवल ऊपर बराबर करने की बात करनेवाले दकियानूस; सिर्फ नीचे बराबरी लाने तक अपने आपको सीमित रखनेवाले पागल।

यूरोप का दिमाग निर्गुण और सगुण को एक समझ लेने के रोग से ग्रस्त है। यूरोप के साम्यवादी रूस के सगुण को ही अपना निर्गुण आदर्श समझ बैठते हैं। दूसरी तरफ यूरोप के लोकतंत्रवादी अमरीका या पश्चिम यूरोप की वर्तमान स्थिति को लोकशाही का अपना निर्गुण सिद्धांत मान लेते हैं। साम्यवादी और लोकतंत्रवादी इतिहास में प्रगति के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे हमेशा कोई न कोई चीज चुन लेते हैं, जिसमें उनका लक्ष्य साकार रहता है। एक बार असलियत और आदर्श का यह एकीकरण हो जाने के बाद आदमी उसके प्रति गुलामी की सीमा तक वफादार हो जाता है और दिमाग किसी बात को समझ ही नहीं पाता। वह या तो औचित्य बता सकता है; या आरोप लगा सकता है, लेकिन समझ नहीं सकता।

हिंदुस्तान निर्गुण और सगुण में पूरी तरह अलगाव के रोग से ग्रस्त है। इसमें धर्म के तत्व भी शामिल हो जाते हैं और निर्गुण और सगुण का अलगाव संपूर्ण हो जाता है। दिमाग निर्गुण और सगुण को एक दूसरे से अलग कर लगातार छल करता जाता है। जब बुनियादी महत्व की ठोस बातों को कार्यक्रम का ब्योरा कह कर खत्म कर दिया जाये और निर्गुण पर एक शून्य में विचार विमर्श हो तब सभी बहसें बेमानी हो जाती हैं। यह सिर्फ दलों के बीच ही स्थिति नहीं है, दलों के भीतर भी यही स्थिति है। विचारधाराएं और सिद्धांत असल में दीर्घकालीन कार्यक्रम हैं ठीक वैसे ही जैसे कार्यक्रम अल्पकालीन सिद्धांत और विचारधाराएं हैं। हिंदुस्तान में निर्गुण और सगुण के अलगाव का रोग करीब-करीब सर्वव्यापी है। निर्गुण और

सगुण दिमाग में दो अलग-अलग खानों के रूप में जरूर रहने चाहिए। लेकिन दोनों के बीच, कभी नहीं थमनेवाली दिल की धड़कनों की तरह, आपस में आवा-जाही रहनी चाहिए। यूरोप ने दोनों खानों के बीच की दीवारें ढहा दी हैं और दिमाग एक ऐसा खुला मैदान हो गया है, जहां निर्गुण और सगुण एक-से हैं। हिंदुस्तान ने दोनों खानों को एक दूसरे से पूरी तरह अलग कर दिया है और दिमाग दो हिस्सों में इस तरह बंट गया है कि निर्गुण और सगुण का पूर्णतया संबंध विच्छेद हो गया है। मनुष्य जाति अब ऐसी स्थिति पर पहुंच गयी है, जब उसके दिमाग में स्वाभाविक रूप से निर्गुण और सगुण की दो अलग-अलग पहचानें होनी चाहिए, लेकिन दिमाग में इन दोनों के बीच एक दूसरे को प्रभावित करते रहने का खेल भी लगातार चलता रहना चाहिए।

समता को प्राप्त करना कठिन है, न केवल मौजूदा विषमता के कारण, बल्कि सोचने की कुछेक गलतियों के कारण भी। उदाहरण के लिए समता का अर्थ भोजन की समता नहीं है, जो कि मुश्किल और हानिकर होगी। बराबर के भोजन का अर्थ तो जेल की बराबरी होगी, राशन की एक निश्चित मात्रा। यह उदाहरण सिर्फ यह समझाने के लिए है कि समता के सिद्धांत को फलदायी बनाने के लिए उसे अच्छी तरह समझना जरूरी है। इजराइल के किबुत्ज़ों में समता के कई समझदारीभरे और हास्यास्पद, दोनों तरह के, प्रयोग हुए हैं। इन बस्तियों में हरेक व्यक्ति को बराबर का नहीं, बल्कि उसकी भूख के मुताबिक भोजन मिलता है। लेकिन कपड़े सबको बराबर के मिलते हैं। मिसाल के लिए हरेक को दो या तीन कमीजें। आवास में भी समता है। इन बस्तियों में कभी-कभी काफी दिलचस्प बहसें चलती हैं। एक बहस यह चली कि बच्चों को उनकी माताओं के पास रखा जाये या अलग नर्सरी में पाल-पोस कर बड़ा किया जाये, जैसा कि तब वहां प्रचलन था। इसमें नये लोगों की जीत हुई, जो बचों को अपनी-अपनी माताओं के पास रखने के समर्थक थे।

कम्युनिस्ट देशों ने शुरू के पांच सालों में विश्वविद्यालय में शिक्षा निःशुल्क करने का प्रयास किया था। बाद में उन्होंने फिर से फीस लगा दी। उनके लिए विश्व-विद्यालय के स्तर पर मुफ्त शिक्षा देना असंभव रहा। किसी भी हिंदुस्तानी के लिए ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज की शिक्षा विशिष्ट आभिजात्य शिक्षा होती है, जबकि वास्तव में इन विश्वविद्यालयों में ८० प्रतिशत छात्र-छात्राएं साधारण आदमियों के लड़के-लड़कियां होते हैं, जिन्होंने अच्छे नंबरों में इम्तिहान पास किये होते हैं और जिनको नगरपालिका के अथवा दूसरे वजीफे दिये जाते हैं। मुमकिन है किसी लक्ष्य की प्राप्ति का कोई एक मार्ग न हो, वह कई मार्गों के मेल से हासिल हो।

समता के कई पहलू हैं। उदाहरण के लिए लगता है कि सोवियत रूस ने सारी आबादी के लिए चिकित्सा और प्राथमिक शिक्षा के मामले में

सबसे अधिक तरक्की की है। विशेष शिक्षा और चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र म जर्मनी या अमरीका आगे है। संपूर्ण पश्चिमी यूरोप और अमरीका अभी भी न्यूनतम भोजन और कपड़ों के मामले में सबसे ऊपर हैं।

कुछ विषमताएं बहुत अड़ियल होती हैं। आज का सबसे आरामदायक महल आसानी से भविष्य की एक गंदी बस्ती हो सकता है और आराम के आधुनिक उपकरणों के कारण साधारण मध्यमवर्गीय घर उससे अच्छा हो सकता है। आवास में समता लाने की कोशिश की जा सकती है, लेकिन कोई इलाका दूसरों के बजाय ज्यादा महत्वपूर्ण या स्वास्थ्यप्रद हो सकता है। इस तरह की समस्याओं के बारे में आम जानकारी बढ़नी चाहिए।

हम लोग आम तौर पर जन्म और संपत्ति की गैरबराबरियों के बारे में जानते हैं, लेकिन हमको वाक्पटुता और प्रतिभा से पनपनेवाली गैरबराबरियों के लिए भी सावधान रहना चाहिए। भारत में समाजवादी आंदोलन में लगता है कि नेता का सबसे बड़ा गुण भाषण करने की क्षमता है; ऐसे भी अवसर होते हैं, जब एक ही शानदार भाषण देने से वक्ता का कार्यसमिति के लिए चुना जाना पक्का हो जाता है। वह सम्मेलन का नायक बन जाता है, भले ही वह आलसी, या अनुशासनहीन अथवा बिल्कुल सड़ा हुआ हो। एक राजनीतिक दल को भाषण देने की इस असमान प्रतिभा से पनपनेवाली गैरबराबरी का इलाज सोचना चाहिए। आखिर बहादुरी और बुद्धिमानी के बिना भाषण देने के गुण का कोई सामाजिक उपयोग नहीं है। सामाजिक दृष्टि से अलोकप्रिय उद्देश्यों का समर्थन करना और सरकार के विरुद्ध काम करना; तकलीफ उठाना भाषण देने के मुकाबले अधिक महत्व के गुण हैं। वाक्पटुता ज़रूरी तौर पर बुद्धिमानी नहीं होती समय के साथ बहादुरी स्वतः अद्वितीय वाक्पटुता हासिल कर लेती है।

किसी भी व्यक्ति को अनाधिकार कोशिश करके जबर्दस्ती किसी दूसरे व्यक्ति के बराबर होने के अर्थ में अपने प्रयास को भ्रष्ट या पतित नहीं करना चाहिए। हम में से हरेक आदमी जिंदगी के एक या दूसरे क्षेत्र में विशिष्ट हो सकता है। लेकिन हमें अपने पड़ोसी की बंदर की तरह नकल नहीं करनी चाहिए। आधुनिक संसार में समता की इच्छा बराबर नहीं, समान या एक जैसे होने की इच्छा बन गयी है। सामूहिक और निजी जीवन के क्षेत्रों में समता प्राप्त करने का प्रयास भ्रष्ट हो जायेगा, यदि वह एक-से बनने की इच्छा में बदल जाता है।

राष्ट्र के भीतर भौतिक समता हासिल करने के बजाय राष्ट्रों के बीच भौतिक समता हासिल करना ज्यादा कठिन दिखता है। यह सच है कि एक राष्ट्र दूसरे पर निर्भर है। कोई भी राष्ट्र, अगर वह अपनी सीमाओं के बाहरवालों की तुलना में गैरबराबर रहता है, तो अपनी सीमाओं के भीतर भी अधिक समय तक

समता नहीं रख सकता। जिस तरह से दानी अपना स्तर ढूंढ़ लेता है, उसी तरह से मनुष्य समाज में भी, अगर उसके स्तरों को उन्नत नहीं किया जाये तो नीचे से नीचे स्तर तक पहुंचने की प्रवृत्ति रहती है। औसत अमरीका की सालाना आमदनी ५५०० रुपये के आसपास पहुंच गयी है। औसत भारतीय की सालना अदमनी २०० रुपये से कम है। अमरीका में प्रतिव्यक्ति पूंजी १५००० रुपयों से भी ज्यादा है। भारत में प्रतिव्यक्ति पूंजी ३०० रुपयों के बजाय २०० रुपयों के इर्दगिर्द है। यह फर्क दोनों देशों के औसत के बीच का फर्क है और भारत के न्यूनतम तथा अमरीका के अधिकतम के बीच का फ़र्क तो अपार होगा। औसत के संबंध में १ और १० के अनुपात जैसा कोई लक्ष्य नहीं हो सकता, वह तो जरूर ही बराबर या करीब-करीब बराबर होना चाहिए। ये मनुष्य संसार के, जैसा कि आज वह हैं, आधारभूत तथ्य हैं। जब तक दिमाग में ये तथ्य हमेशा नहीं बने रहते, तब तक समता के संबंध में किया गया सभी चिंतन अर्थहीन होगा।

विज्ञान के आविष्कारों के फलस्वरूप संपन्नता का युग आने की बात में दयनीय आस्था, विवेक के समर्पण जैसी है। जानबूझ कर एक ऐसा राजनीतिक और आर्थिक ढांचा बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के भीतर और राष्ट्रों के बीच की खाई को पाट सके। इसमें बहुत शक है कि मौजूदा औद्योगिक उत्पादन प्रणाली इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी। यह उत्पादन प्रणाली कुछ निश्चित परिस्थितियों के साथ शुरू हुई है — एक, कम आबादी और ज्यादा जमीनें; दो, आबादी के हर आदमी के लिए काफी पूंजी और मशीनें; तीन, सारी दुनिया का औद्योगिक उत्पादन थोड़े से पश्चिम यूरोपीय देशों में हो। ये सब अनूठी ऐतिहासिक स्थितियां थीं। इनको दोहराया नहीं जा सकता। यह समझना मुश्किल है कि जो उत्पादन प्रणाली इन स्थितियों से जुड़ी हुई थी, उसकी इन स्थितियों के बिना नकल कैसे हो सकती है। विज्ञान और उत्पादन प्रणाली का मौजूदा स्वरूप सारी दुनिया के लिए संपन्नता का युग ला सकता है या उसके नये स्वरूप खोजने पड़ेंगे, यह प्रश्न इतिहास के निर्णय पर छोड़ा जा सकता है। लेकिन यह निर्णय हो चुका है कि समता की क्रांति को मूर्त रूप देने में समर्थ आर्थिक और राजनीतिक ढांचे की तलाश के लिए मनुष्य जाति को चिंतन और कर्म के कठिन प्रयास करने चाहिए।

सृष्टि में समता और एकता के आनंद का स्वाद ले चुकनेवाले लोग तब तक संतुष्ट नहीं होंगे, जब तक पूर्णतया संभव समता हासिल नहीं हो जाती। मुमकिन है ऐसी पूर्ण समता तक कभी नही पहुंचा जा सके, कम से कम वह युगों दूर हो। परंतु मन में आज की विषमताओं के अनुभवों के मुकाबले समता का लक्ष्य अधिक प्रखर रूप में मौजूद रहना चाहिए। तब राष्ट्र के भीतर और राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक सामीप्य बढ़ाने की उमंग से

विषमता की खाइयां पट जायेंगी। गैरबराबरियां हट जायेंगी। ऐसे राजनीतिक और आर्थिक ढांचों को हासिल करने की कोशिश होगी, जो किसी भी तरह की सीमाओं का लिहाज किये बिना मनुष्य-मनुष्य के बीच बढ़ते हुए भौतिक सामीप्य को क्रांतिकारी ढंग से साकार करेंगे।

समता की यह उमंग आत्मविश्लेषण की प्रखर भावना की सहवर्ती होगी। आज की भारतीय स्थिति में दो बुराइयां प्रकट हो रही हैं। शायद ये बुराइयां मनुष्य जाति में सर्वव्यापी हैं। जीवन में अपने से ऊपर स्थित लोगों के विरुद्ध समता का व्यवहार आसान रहता है, क्योंकि कुछ स्थितियों में आदमी में जलन और कटुता आसानी से आ जाती है। जीवन में अपने स्थान से नीचे स्थित लोगों के साथ समता का व्यवहार, तुलनात्मक रूप से कठिन होता है, क्योंकि सहानुभूति के लिए भौतिक और अध्यात्मिक दोनों तरह के प्रयास करने पड़ते हैं, यद्यपि किसी आदमी को सहानुभूति का अनुभव हो चुकने के बाद वह बहुत बड़े आनंद का स्रोत बन जाती है। समता की उमंग सहानुभूति के व्यवहार तक ही सीमित नहीं रहेगी; वह गुस्से का भी व्यवहार करेगी, यद्यपि जलन के साथ नहीं।

इसके साथ जुड़ी हुई एक बुराई और है। समाज के कई बड़े हिस्से अपनी योग्यताओं का विकास किये बिना कटुता और जलन के सहारे अपने को ऊपर उठाने की कोशिश करते हैं। एक ऐसी स्थिति में जहां दसियों शताब्दियों से कुछ वर्गों ने दिमागी कामों में और बाकी वर्गों ने मेहनत के काम में महारत हासिल की है, यह खास तौर से होता है। इन दबी हुई जातियों से प्राय: ऐसे नेता निकलते हैं, जो शक्ति और संपत्तिवाले वर्गों से बराबरी हासिल करने के लिए, उनके प्रति जलन से भीड़ को भड़काने में माहिर होते हैं। वास्तविक योग्यतावाले व्यक्ति इन दबी हुई जातियों में भी पीछे रह जाते हैं। उनको अपने विकास का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि जलन की कटु-वाणीवाले लोग उनसे आसानी से आगे निकल जाते हैं। मनुष्यता हार जाती है। समतावादियों को गैरबराबरी लादनेवाले लोगों से बराबरी के लिए संघर्ष करने के साथ ही साथ सभी मनुष्यों के, विशेषकर दबाये हुए लोगों के दृष्टिकोण और योग्यताओं के विकास के प्रति हमेशा जागरूक रहना चाहिए। गैरबराबरी लादनेवालों में कुछ गुण भी होते हैं, विशेष रूप से कुशलता और आचरण के। समता के लिए लड़नेवालों को अपने में भी ये गुण पैदा करने चाहिए।

हमें विभिन्न क्षेत्रों में बराबरी हासिल करने के तरीकों के बारे में सावधान रहना चाहिए। भौतिक समता के हरेक पहलू की प्रकृति के अनुरूप ही उसे हासिल

करने का तरीका भी होना चाहिए। नहीं तो अनसोचे और उल्टे नतीजे भी निकल सकते हैं। बाध्यता, प्रचार और उदाहरण परिवर्तन के युगों पुराने तीन तरीके हैं। परिवर्तन का अन्य कोई उपाय सिद्धांत रूप में संभव नहीं है, कम से कम इसके पहले इतिहास में तो नहीं रहा है। लेकिन परिवर्तन के इन अलग-अलग तरीकों की वाजिब हदबंदी अभी तक नहीं हुई है। उदाहरण, प्रचार और बाध्यता में से हरेक की अपनी-अपनी सीमा है। इन सीमाओं का उचित अध्ययन नहीं होने से अज्ञान या कट्टरता के कारण, लक्षित परिणामों से उल्टे परिणाम निकल सकते हैं।

एक उदाहरण के लिए शाकाहार, सिगरेट और शराब नहीं पीना अच्छे गुण और अच्छे आचरण के लक्षण माने गये हैं। असल में शाकाहार का समता की समस्या से अप्रत्यक्ष संबंध है और गरीब देशों में सिगरेट तथा शराब का भी दूर का रिश्ता जोड़ा जा सकता है। लेकिन अगर शाकाहार, सिगरेट और शराब नहीं पीने के समर्थक परिवर्तन के तीनों उपायों के साथ मनमानी करने लगे, तो निर्णय की बहुत बड़ी गलती हो जायेगी। उदाहरण के लिए शाकाहार को कभी भी निजी उदाहरण के तरीके से आगे नहीं जाना चाहिए। सिगरेट नहीं पीने के मामले में खुद के उदाहरण के साथ कभी-कभी प्रचार या समझाने-बुझाने का तरीका काम में लिया जा सकता हैं। शायद शराबबंदी के मामले में समझाने-बुझाने तथा खुद शराब न पीने के उदाहरण के साथ कुछ परिस्थितियों में और थोड़े समय के लिए, प्रतिबंध की सहायता ली जा सकती है। शराबबंदी के मामले में भी किसी को पूर्ण बाध्यता के गुणों को लेकर ज्यादा हठधर्मी नहीं होना चाहिए।

निजी उदाहरण का तरीका सब कहीं लागू होता दिखता है, जब कि समझाने-बुझाने का दायरा, तुलनात्मक रूप से, सीमित है, परंतु वह बाध्यता के दायरे से कहीं अधिक बड़ा है। यह जोड़ने की जरूरत नहीं है कि बाध्यता का अर्थ सिर्फ कानून या सिविल नाफरमानी की बाध्यता ही है। सरकार कानून से बाध्य करती है और विरोधी दल सिविल नाफरमानी से। इसके अतिरिक्त अन्य किसी तरह की बाध्यता पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि खून बहा कर कभी समता हासिल नहीं हो सकती।

राष्ट्रों के बीच सामीप्य बढ़ाने की तरह ही राष्ट्र के भीतर भी सामीप्य बढ़ाना बहुत मुश्किल है। ऐसा लगता है कि अगर वह सामीप्य कभी किसी समय में हासिल हो भी जाये, तो उसे कायम रखना और भी मुश्किल होगा। जब तक सारी मनुष्य जाति पर समता और सामीप्य बढ़ाने का महान् लक्ष्य अध्यात्मिक रूप से पूरी तरह छा नहीं जाता, तब तक गैरबराबरी और हथियारों की ताकत पर टिके हुए अपहर्ता राष्ट्र और वर्ग दखल देंगे और

संपूर्ण समता के लिए किये गये प्रयासों को कुचलेंगे। इससे बचने का एक ही रास्ता है। वह सीधा रास्ता है अत्याचारी, अपहर्ता और शोषक से 'नहीं' कहने का। मनुष्य जाति को हथियारों की सहायता के बिना 'नहीं' कहने की यह कला ज्यादा से ज्यादा सीखनी चाहिए। अपहर्ता और शोषक से हथियारों की सहायता के बिना 'नहीं' कहने के साथ समता का संपूर्ण अर्थ गुंथा हुआ है। हथियारों पर निर्भर रहने से आदमी, जब उसके पास हथियार नहीं होते और जब वे काफी या ज्यादा ताकत-वर नहीं होते, दोनों स्थितियों में, असहाय हो जाता है। समता का संपूर्ण अर्थ इस तरह की निर्भरता और असहायता के बीच कभी विकसित नहीं हो सकता। मनुष्य जाति को ऐसे नये मनुष्य को जन्म देना चाहिए, जो अपहर्ताओं से व्यक्ति रूप में और समूह के साथ 'ना' कहना सीखेगा।

हमेशा नहीं, तो कम से कम एक लंबे समय तक दुनिया कलह और दुख, लेकिन साथ ही आनंद और विजय से भरीपूरी रहेगी और हर हालत में अथक मेहनत तो करनी ही पड़ेगी। अगर मनुष्य ने किसी स्वर्णिम भविष्य की आशा से अपना आचरण ढाला, तो वह एक खतरनाक जोखिम लेगा। उसे वर्तमान में अपना आचरण बदलना चाहिए; अपने जीवन को तुच्छताओं से मुक्त करना चाहिए और उसमें आनंद भरना चाहिए, क्योंकि अपनी स्वयं की मृत्यु का समुचित स्वागत करने की तैयारी के लिए उसके पास बहुत कम समय है। इस बीच वह सुनहरे भविष्य की आशा संजोये रख सकता है। इस सबके दौरान वह सुख और दुख, शीत और ताप, जीत और हार के बीच हिचकोले खाता रहेगा। उसका विचार और कर्म सदैव अनुभव की विपरीत धाराओं से दूषित होता रहेगा। घमंड, लालच जलन, दंभ, डर, धौंस, शोषण की चाह और इनके साथ जुड़े कपट, झूठ और कत्ल की चालबाजियां उसके रास्ते को घेरती रहेंगी। ऐसे वातावरण में न तो भौतिक समता और न ही भावात्मक भाईचारा ही फल-फूल पायेगा।

आधुनिक दिमाग समता के एक और अर्थ, उसके सबसे आंतरिक अर्थ को भूल गया है। मनुष्य को सुख और दुख, गर्मी और सर्दी, जीत और हार की विपरीत परिस्थितियों के बीच एक आंतरिक समता महसूस करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा लगता है कि भारत के पुराने लोगों को यह अनुभूति थी कि आंतरिक सम-चित्तता और बाहरी समता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, क्योंकि सिर्फ भारत की भाषाओं में ही दोनों अर्थों के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। वह शब्द है समता या समत्व! यह आसानी से कहा जा सकता है कि विपरीत परिस्थितियों में ऐसी शांति संभव नहीं है। लेकिन यह कहना पूरी तरह से सच नहीं होगा, क्योंकि भूतकाल में इस तरह की शांति, उसके लिए तैयारी करनेवालों के लिए, संभव रही है। फिर यह पूरी या लगभग पूरी मनुष्य जाति के लिए संभव क्यों नहीं हो सकती?

निस्संदेह शरीर का नियम व कानून जरूर हावी रहेगा। शरीर आवश्यक रूप से गर्मी और सर्दी या सुख और दुख को अलग-अलग अनुभव करेगा। लेकिन इन अनुभवों की अनुभूति पानेवाले मन के पीछे एक और मन हो सकता है, जो सिर्फ देखेगा। उस स्थिति में प्रत्येक अनुभव को जाननेवाला उसका द्रष्टा भी होगा और वह उसे पूर्ण रूपेण समझ सकेगा। मनुष्य का मन एक अनुभव को जानने के साथ ही साथ उसे देखेगा भी। छोटी–छोटी दुर्घटनाओं के समय यह प्रायः होता है। जब कोई आदमी केले के छिलके पर चोट खाये बिना फिसलता है, तो उसे अपने गिरने और अप्रसन्नता का अनुभव होता है, लेकिन उसे इस पर हंसी भी आती है और वह इसे हंस कर टाल देता है। शायद वह दूसरे लोगों की परेशान करनेवाली दृष्टि से बचने के लिए ऐसा करता हो और किसी भी हालत में यह बात एक मामूली घटना से संबंधित होती है। लेकिन इससे यह तो साबित होता ही है कि मनुष्य अपने स्वयं के अनुभव पर हंस सकता है।

यह हंसी अध्यात्मिक प्रशिक्षण या संस्कृति के परिष्कार से भी आ सकती है, ठीक वैसे ही जैसे यह मामूली घटना के बाद परेशानी अथवा ऐसी ही प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप आती है। निरंतर प्रशिक्षण से मनुष्य एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकता है, जिसमें वह जीत और हार या सुख और दुख के अपने अनुभव को जानेगा भी और देखेगा भी।

इस तरह समता आंतरिक और बाह्य भी होती है, ठीक वैसे ही जैसे वह अध्यात्मिक और भौतिक होती है। इसलिए समता को उसके चारों अर्थों में पूर्णतया समझना आवश्यक है। भौतिक समता का अर्थ राष्ट्र के भीतर आंतरिक सामीप्य के साथ-साथ राष्ट्रों के बीच बाह्य सामीप्य होना चाहिए। आध्यात्मिक समता का अर्थ बाह्य रूप से भाईचारा और आंतरिक रूप से समचित्तता होना चाहिए। राष्ट्र के भीतर और राष्ट्रों के बीच समचित्तता, भाईचारे, भौतिक समता के इन चारों अर्थों का समग्र विचार ही जीवन का महान लक्ष्य और उद्देश्य बन सकता है। तब मनुष्यों को आश्चर्य होगा कि भाईचारे और भौतिक समता को अपने-अपने परिवार तक सीमित रख कर और उसे संपूर्ण मानव परिवार तक विस्तृत नहीं करके पिछली पीढ़ियां कैसे मनुष्य के स्वभाव की अवहेलना करती रहीं। तब सृष्टि की एकता और उसकी भौतिक समता, भाईचारे और शांति के सचमुच अमर गीत गाये जायेंगे।

●

राममनोहर का बलिदान

● राममनंदन मिश्र

महाष्टमी की मध्यरात्रि को छिन्नमस्ता के चरणों में राममनोहर लोहिया ने अपने जीवन की बलि दे दी। छिन्नमस्ता, देवी का वह रूप है, जिसमें वह स्वयं ही अपना रक्तपान करती है। पिछले कई वर्षों से राममनोहर अक्षरशः अपना ही रक्तपान कर रहे थे। मानव-जाति की इस कालनिशा में चारों तरफ जो भट्टी जल रही थी, उसने जीने के रस का स्रोत शुष्क कर दिया था। भारतीय दर्शन के अनुसार कीट-पतंग से लेकर मनुष्य पर्यंत सभी प्राणियों के जीवन के मूल में 'स्व' का रस रहता है। इसी को योगदर्शन ने 'स्वरसवाही' कहा है। अन्य जीवनों की तुलना में, इस रस की सब से अधिक आवश्यकता राममनोहर के जीवन में थी, इसलिए कि फैजाबाद जिले के अकबरपुर शहर में चार वर्ष के नन्हे शिशु के दिल में जो आग जली थी, वह कभी बुझ नहीं पायी।

एक ओर अत्याचार, उत्पीड़न और असमानता के विरुद्ध क्षोभ तथा दूसरी ओर पीड़ितों के लिए करुणा, एक अच्छे व्यक्ति के अंतर में सहज ही संभव है। लेकिन राममनोहर के जीवन में, ऐसा लगता था जैसे अन्याय और पाखंड के विरुद्ध उनका क्षोभ केवल उनके अंतर की भावना न रह कर उनके रक्त-मांस तथा स्नायु तंतुओं को झंकृत कर दिया करता था और यह स्थिति उनके जीवन की मूल भावना वृत्ति (पैशन) बन गयी थी। उनकी इस वृत्ति के उद्दाम रूप को देख कर मैं कभी-कभी अवाक हो जाता था।

अक्सर वह अपनी मित्र-मंडली से घिरे रहा करते थे। एक दिन लखनऊ में आचार्य नरेंद्रदेव जी के निवास पर हम दोनों एक ही कमरे में विश्राम कर रहे थे। अकेला पा कर मैंने पूछा—राममनोहर, तुम्हारी इस आग का ऐतिहासिक स्रोत कहां है, बता सकते हो ? मुझे लगता है तुम्हारे जीवन की किसी घटना में इसका स्रोत छिपा है। वह उठ कर बैठ गये, कहने लगे—'जब मैं चार वर्ष का बच्चा था, उस

समय ही, मेरे साथ खेलने के लिए धनियों के बच्चे आते। परंतु उनका व्यवहार मेरे अंतर पर चोट करता था। सात-आठ वर्ष की उम्र में, इसी तरह कलकत्ता के लखपतियों के बच्चों को करते देखा। इस व्यवहार से वितृष्णा और विक्षोभ जो जगे, वे मेरे अंतर की अमिट लकीर बन गये। आगे आकर नेताओं के पाखंड और अवसरवादिता ने, इस अग्नि में घी की आहुति दी।' इसी भित्ति पर खड़ी हुई शोषित-वर्ग के ऊपर होने वाले सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों के खिलाफ उनके विद्रोह की भावना। यही आग सुदूर अमरीका में नीग्रो जाति के ऊपर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध, उन्हें वहां की जेल में ले गयी; नेपाल की राणाशाही के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह का उन्होंने नेतृत्व किया और इसी आग के जलते वे नारी जाति के संरक्षक बन बैठे। देश-विदेश की नारियां, पीड़ित होकर, उन्हें अपनी व्यथाएं कहतीं या लिख भेजतीं। लेकिन केवल आग की लपटें किसी के जीवन को धारण नहीं कर सकतीं। आग के साथ-साथ रस न रहे तो जीवन इन लपटों में जल कर भस्म हो जाये। इसी कारण वेद की भाषा में कहा गया है कि अग्नि और सोम का संयोग ही सृष्टि को धारण करता है।

एक दिन रेल में सफर करते हुए मैंने पूछा था, 'राममनोहर, तुम्हारे जीवन का दर्शन क्या है?' उन्होंने अंग्रेजी में उत्तर दिया—'एव्हरग्रीन लाइफ' (सदा-बहार जीवन रस)। यह जर्मन भाषा के एक शब्द का, जिसे मैं अब भूल गया हूं, अंग्रेजी अनुवाद था और यही शब्द जर्मन युवक आंदोलन का प्रधान सांस्कृतिक आधार था। बंगाल के युवक-आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर जब वे जर्मनी गये, तो वहां जाते ही, जर्मन युवक आंदोलन में पिल पड़े। म्युनिख, स्टेटगार्ट और बर्लिन के कैफे में जर्मन युवक-युवतियों के साथ गप्पें लड़ाना और पैंफलेट लिखना, उनका रोजमर्रा का काम बन गया था। इसी समय एक तरफ उन्हें दिखी जर्मन सोशल डेमोक्रेसी की रीढ़हीनता और दूसरी ओर जर्मन युवक-युवतियों का उद्दीप्त जीवन-प्रवाह।

जर्मन युवक-आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का बहुत बड़ा पोषक था। उनके बीच में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी गांधी की चर्चा अक्सर होती, परंतु गांधीजी की भगवान तथा धर्म की चर्चा वे समझ नहीं पाते और अक्सर कैफे की बहसों में उन्हें चुप हो जाना पड़ता।

एक दिन गांधीजी के एक वक्तव्य की कुछ पंक्तियां जर्मन पत्रों में प्रकाशित हुईं, जिनका भावार्थ था: 'पंछी भी तभी गाना गाता है, जब वह दाना चुग लेता है। भूखों का भगवान रोटी है।'

राममनोहर एक दिन कहने लगे कि इन वाक्यों को लेकर, उस दिन, किस तरह वे उछल पड़े थे और कई सप्ताह जर्मन युवक-आंदोलन के केंद्रों में घूम-घूम

कर वे इन वाक्यों के आधार पर पर्चे तैयार कर तथा व्याख्यान देकर जर्मन युवक-युवतियों में, भारतीय राष्ट्रीय संग्राम के आधार के संबंध में गलतफहमियां मिटाने में समर्थ हुए।

गांधीजी के साथ विरोधों की प्रखरता के बीच उनका संबंध आजीवन मधुर बना रहा। एक बातचीत के सिलसिले में गांधीजी ने कहा था—'अनेक लोगों में अनेक गुण हैं, परंतु तुम्हारा शील मुझे बहुत प्रभावित करता है।' पिछले दिनों उनके व्यवहार में कठोरता और तिक्तता आ गयी थी। उसके भुक्तभोगी लोग गांधीजी द्वारा 'शील' शब्द के व्यवहार से संभवतः हंसे, परंतु मैंने शील की अंतर्धारा को अनेक कठिन प्रसंगों के बीच उनके जीवन में देखा।

कटुता और तिक्तता उनके जीवन के पिछले भाग में प्रबल हो उठी। जब १९५५ में राजस्थान के रेगिस्तान में, उनके ऊपर अनुशासन की आड़ में, वज्र प्रहार किया गया, तो वह तिलमिला उठे। उसके बाद धीरे-धीरे, उनके जीवन से शील की अभिव्यक्ति कम होती गयी और कटुता बढ़ती गयी।

इसी प्रसंग में ८ अगस्त, १९४२ की संध्या के समय बिड़ला भवन में गांधीजी के साथ बातचीत की याद आती है। अपनी ऐतिहासिक गिरफ्तारी के पहले गांधीजी ने बातचीत के लिए संध्या ७ बजे का समय दिया था। डॉ. लोहिया को अगुवा बना कर, सोशलिस्ट पार्टी का एक छोटा प्रतिनिधि मंडल गांधीजी से मिलने गया। उस मंडल में लेखक भी था। हम लोगों के बैठने के साथ ही सरदार वल्लभभाई पटेल आकर बैठ गये। सरदार से सोशलिस्ट पार्टी का संबंध कई वर्षों से तीखा-सा था। संभवतः इसी कारण गांधीजी ने सरदार के बैठते ही कहा—हमारी बातचीत में सरदार भी रहना चाहते हैं, यदि आप लोगों को कोई आपत्ति न हो।

हम लोगों की ओर से डॉ. लोहिया ने अत्यंत नम्रता से उत्तर दिया-पिछली बातों को याद कर हम इस महान संग्राम में प्रवृत्त नहीं हो सकते। आज वल्लभभाई हम सबके प्रिय और सरदार बन गये हैं।

मुख्य बातचीत को प्रारंभ करते हुए गांधीजी ने कहा — पिछले कई वर्षों से मेरे कर्तव्यों में विरोध दीख पड़ता है । यदि समय मिला तो उसका स्पष्टीकरण करूंगा। डॉ. लोहिया ने तुरंत ही उत्तर दिया — गांधीजी, इन विरोधाभासों में आज हमारी दिलचस्पी नहीं है। जो आप आज कह रहे हैं, वह हमारे अंतर की आवाज है। हम आज जो आप कहते हैं, उसी से संतुष्ट हैं। फिर गांधीजी ने 'करो या मरो' की मार्मिक व्याख्या दी और १९४२ की क्रांति किस धारा पर चले इसका निर्देश दिया।

जीवन का पौधा चिर दिन हरा और उत्फुल्ल बना रहे, यह उनका जीवन-दर्शन था। एक लेख में कभी उन्होंने लिखा था — जीवन के दो प्रधान आकर्षण

रहे हैं, भगवान और नारी। फिर उन्होंने कहीं यह भी कहा था — ' मेरा दुर्भाग्य है कि भगवान को मैं समझ नहीं पाया और नारी मुझे स्पर्श देकर चली गयी। '

मैंने पिछले एक लेख में लिखा था — ' किसी पद का लोभ और किसी नारी के केशपाश उसे बांध नहीं सके, राममनोहर कुंआरा का कुंआरा ही रह गया। ' चीन, जर्मनी, अमरीका तथा अन्य देशों के समाजवादी आंदोलन जिन चट्टानों पर टकरा कर टूट गये, वे उन्हें भूले नहीं थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि अच्छे से अच्छे कार्य-क्रम तान (टोन) तथा मात्रा (व्हॉल्यूम) के अभाव में जनता के दिलों पर अपनी गहरी छाप नहीं बैठा पाते।

मेरी और डॉक्टर लोहिया की पहली मुलाकात इलाहाबाद स्टेशन के रेस्तरां में हुई थी। उस समय पूर्णिमा भी उनके साथ थी। उन दिनों जर्मनी से वापस आकर आनंद भवन में, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विदेश-विभाग का, वे संचालन कर रहे थे। उस पहली बातचीत में ही उन्होंने तान (टोन) और मात्रा (व्हॉल्यूम) की चर्चा निकाली थी।

आगे चल कर जब १९३४ के साथी इधर-उधर बिखर गये तो प्रश्न उठा। 'अब क्या ?' भारतीय समाजवादी आंदोलन में एक संकट का युग आ गया। १९०९ और १९१० में भारतीय राष्ट्रीयता आंदोलन में भी एक ऐसा ही समय आया था, उस समय 'फलक' (आकाश) उपनाम धारी स्वर्गीय कवि लालचंद ने शायरी की थी।

सूफी ओ अजीत ने टर्की की राह ली,
बाकी था लाजपत वो भी मैदां से हट गया।
सरला और दीनानाथ ने पकड़ी है रविश नयी,
तू भी बदल ' फलक ' कि जमाना बदल गया॥

सोशलिस्ट पार्टी के कानपुर सम्मेलन के बाद धीरे-धीरे कोई इधर गया, कोई उधर गया और १९५४ में राममनोहर के जीवन में वैसा ही प्रश्न उठा —

तू भी बदल ' फलक ' कि जमाना बदल गया।

पर जमाने को अपने सपनों की अनुरूपता में बदल डालने की दृढ़ता से ओतप्रोत राममनोहर को बदलता रहनेवाला जमाना कैसे बदल देता ? जीवन के असीम साहस के साथ उन्होंने समाजवादी आंदोलन के झंडे को अकेले ऊंचा रखने का व्रत लिया।

तब तक हिंदुस्तान के समाज की धरती सड़ चुकी थी। चारों तरफ सस्ते भोग की लालसा धू-धू कर जल रही थी। राममनोहर एक तरफ से जो बना आते थे, वही

दूसरी तरफ से टूट जाता था । उनकी वाणी का तीखापन और भी तीखा और कटु होता गया । भद्रता की सीमा का उल्लंघन कर छूटनेवाले उनकी वाणी के तीखे तीरों की बौछार से भारत के बड़े-बड़े लोग तिलमिला उठे। बहुत से लोगों ने मुझसे आकर पूछा—उनकी वाणी को संयत करने के लिए आप क्यों नहीं कुछ करते ? मैं उन्हें स्पष्ट उत्तर दे देता—यह संभव नहीं है। लेनिन की वाणी में भी ऐसा ही कडुवापन था। लेनिन से भी यह प्रश्न पूछा गया था। आप इस तरह क्यों बोलते हैं - लेनिन ने कहा था—'शोषितों की पीड़ा की ज्वाला जिसके अंतर में अहरह जलेगी, उसकी वाणी में मिठास नहीं रह सकती।' राममनोहर जिस आग में जलते थे उसकी व्यंजना आसावरी के मीठे स्वरमें संभव नहीं थी।

जब पहले पहले पार्लियामेंट में चुन कर वे दिल्ली गये तो 'स्टेट्समैन' के संपादक ने लिखा था— "ए बुल इन द चाइना शाप"। राममनोहर सच ही एक ठिगने सांड़ की तरह पार्लियामेंट में घुसे थे। 'स्टेट्समैन' के संपादक ने चेष्टा तो की थी राममनोहर को गाली देने की, लेकिन उसने पार्लियामेंट को 'चाइना शाप' की उपमा देकर, अनजाने ही पार्लियामेंट की ही छीछालेदर की। पार्लियामेंट-भवन को जिन लोगों ने नाजुक चीनी मिट्टी के बर्तनों का भंडार बना दिया, इतिहास उनसे ही इसका उत्तर पूछेगा।

लेकिन इस आग की ज्वाला में पड़े रह कर भी मानसिक संतुलन डॉ. लोहिया रख पाते थे, यह एक महान आश्चर्य है। अन्याय के प्रति क्षोभ और जीवनवृक्ष को अनवरत हरियाली के रस से सदाबहार बनाये रखने की अलमस्त चाह—डॉ. लोहिया के जीवन की इन दोनों धाराओं पर पहले प्रकाश डाल चुका हूं। लेकिन गंगा और यमुना के साथ सरस्वती की अन्तःसलिला की एक तीसरी धारा भी थी, जिसे उन्होंने बराबर गुप्त ही रखा। लेकिन अब उस पर प्रकाश डालने में कोई हर्ज नहीं है। अपने जीवन की शायद ही कोई बात वे मुझसे गुप्त रखते थे।

हैदराबाद में श्री बदरीविशाल पित्ती के घर पर हम दोनों एक बार ठहरे थे। एक संध्या को बदरीविशाल मुझे राममनोहर के कमरे में ले गये। देखा, राममनोहर चित पड़े हैं और उनके मुंह से अर्द्धचेतनावस्था में किसी वक्तव्य के कुछ वाक्य अर्द्धस्फुट निकल रहे हैं। मैं कमरे से बाहर आ गया। मै जानता था कि उनके जीवन की तीसरी धारा, जो अन्तःसलिला है, उसकी ही, इस तरह, कभी-कभी अभिव्यंजना हो जाती थी।

वे अक्सर कहा करते — 'क्या सारा योगदर्शन योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः में नहीं समा जाता ?' जर्मनी जाने से पहले ही उन्होंने योगदर्शन का अध्ययन कर लिया था और अपनी पद्धति से वह चित्तवृत्तिनिरोध की चेष्टा आजीवन

करते रहे। यही था वह आधार, जहां से उनके जीवन की अद्‌भुत मौलिकता उद्‌भूत होती थी। यह निश्चित रूप से कह सकता हूं कि भारत के राजनीतिक आकाश में मौलिक विचारों का एक चमकता हुआ सितारा राममनोहर के साथ ही टूट गया। सृजनात्मक विचार या मौलिक विचार निरुद्ध वृत्तियों के परे के क्षेत्र–स्पर्श से ही निकलते हैं। विश्वराज्य. तीसरा कैंप, भूमि–सेना, राज्य और सरकार का भेद, चौखंभा राज्य आदि उनके वाक्य आज भारतीय राजनीति के प्रचलित बिन्दु बन गये हैं, पर मूलतः वे लोहिया के ही मौलिक चिंतन की उपज थे।

चित्तवृत्तिनिरोध की साधना उन्होंने कैसे और कब पायी, यह कहना आज संभव नहीं। हो सकता है इसका बीज उन्होंने अपने स्वर्गीय पिता श्री हीरालाल लोहिया से पाया हो। आदरणीय श्री हीरालाल से मेरा परिचय हजारी बाग जेल में हुआ और उनके वात्सल्य–प्रेम को हम सबने निकट से देखा। श्री हीरालाल, राममनोहर लोहिया के नाते, अपने को सोशलिस्ट पार्टी का बाप कहते और अपने उस वात्सल्य प्रेम का प्रसाद—देते हम सबको सप्ताह में दो चार मिठाई खिलाकर। कितने श्रम से सारा दिन लगाकर, अपने हाथों से वह मिठाई तैयार करते और हमें जब तक भरपेट खिला नहीं देते संतोष नहीं होता। राममनोहर के प्रेम संबंधों की चर्चा, उनकी बचपन की कथाएं बड़े रस के साथ वह मुझे सुनाते। एक लेख में राममनोहर ने एक बार लिखा था—'लगता है मानव विचारधारा नये विचार अंतरीपों की खोज की प्रेरणा ही जैसे खो चुकी है।' हां, विज्ञान के गगनचुंबी चमत्कार से जैसे एक तरफ विचारकों के अंतर्विचार – नेत्र अभिभूत से हो गये हैं, वैसे ही दूसरी ओर मानव जाति ने धर्म और संप्रदाय का अंतर खो दिया है। जैसे राज्य के स्थायी ध्वज-स्तंभ के आस–पास सरकारें उठती और गिरती रहती हैं। वैसे ही धर्म के ज्योतिस्तंभ के नीचे संप्रदाय बनते और बिगड़ते रहते हैं। धर्म न हिंदू होता है न मुसलमान होता है, न ईसाई और न बौद्ध। धर्म वह चिर सत्य है, वह सनातन ध्वजस्तंभ है, जो भौतिक और अध्यात्मिक तत्वों का मूल आधार है। उसे जानने, छूने, अनुभव करने की चेष्टा अनंत काल से वैज्ञानिक अनुसंधान-केंद्रों में, मठों, मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, आश्रमों में होती रही है और अनंतकाल तक होती रहेगी। उसी के स्पर्श से वैज्ञानिक अनुसंधान-केंद्रों, मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों के छोटे-छोटे दीप जलते हैं। लेकिन मानव जाति आज इन्हीं छोटी-छोटी वैज्ञानिक और सांप्रदायिक दीपशिखाओं को धर्म का ध्वजस्तंभ मान बैठी है। इसी के परिणामस्वरूप आज मानव जाति चरित्रहीन और उन्मत्त हो उठी है।

१९६२ के चुनाव में पिटकर जब राममनोहर काशी में गंगा में मेरे साथ एक नौका पर बैठे विचारमंथन कर रहे थे, वे मुझ से पूछते रहे—'रामनंदन इस तरह क्यों हो रहा है?' मैं उनसे कहता—'राममनोहर, चरित्रहीनता और उन्मत्तता के

तांडव नृत्य के बीच तुम सृजन की क्रिया नहीं कर सकते। इस सड़ी हुई समाज की धरती में सर्वोदय, समाजवाद, जिसका भी पौधा डालोगे, वह सड़ेगा ही। '

१९६७ के चुनाव में वे कांग्रेस को राजसत्ता में एकाधिकार से गिराने में तो सफल हो गये, लेकिन सृजन के काम में सफल नहीं हुए। अतृप्त मांगों की वासना और अवसरवादिता उनकी अपनी जमात में भी जलती ही रही।

४ सितंबर, ६७ को जब वे दुमका में मिलने आये तो मैंने देखा, जीने का रस वे खो चुके हैं। अग्नि थी, पर सोम-रस नहीं था। इतना शीघ्र चले जायेंगे यह तो उस समय कल्पना नहीं हुई, लेकिन अपनी ही आग में वे जल रहे हैं, ऐसा स्पष्ट दीखता था।

ठीक ऐसी ही आग बलिदान के कुछ सप्ताह पहले, गांधीजी में भी मैंने देखी थी। गांधीजी ने तीव्र वेदना में कहा था— 'रामनंदन जो लोग मेरी ओर देखते थे, वे आज मुझे पिछड़ी संख्या (बैक नंबर) मानते हैं। शतरंज के बादशाह या फर्जी की जगह मैं एक छोटा प्यादा बन गया हूं। जिन्हें मैंने अपने हाथों, देश के राजसिंहासन पर बैठाया, उन्हें उन्हीं हाथों से गिराने की अभिरुचि नहीं होती। तुम इसे मेरा मोह कह सकते हो। आज अक्षरशः एक भट्टी में मैं जल रहा हूं।' करीब-करीब ऐसे ही वाक्य राममनोहर ने भी दुमका में कहे थे। हम लोगों ने यह निश्चय किया था कि कुछ दिनों बाद दिल्ली में मिलेंगे और नये सिरे से इन प्रश्नों पर विचार करेंगे। मैंने राममनोहर से कहा था—

'देश इसे याद रखेगा कि विश्वराज्य का नारा तुमने ही पहले-पहल भारतवर्ष में दिया। अब मेरी प्रार्थना है, उसके साथ विश्वधर्म का नारा भी तुम दो। विश्व संस्कृति के आधार पर ही विश्वराज्य का महल बन सकता है। साथ--साथ तुम इसका भी स्पष्टीकरण कर दो कि धर्म और संप्रदाय का अंतर क्या है। संप्रदाय-निरपेक्षता की बात मैं समझ सकता हूं, परंतु धर्म--निरपेक्षता तो पशुता है। '

दूसरी बात मैंने कही थी — 'राममनोहर, कार्यक्रम और कार्यकर्ता अथवा पथ और पथिक का एक गहरा संबंध है। कार्यक्रम और कार्यकर्ता इन दोनों में किसका ज्यादा महत्व है, यह कहना कठिन है, लेकिन आज की हालत में मेरी दृष्टि में कार्यक्रम से ज्यादा महत्व व्यक्तियों का हो गया है। विश्वराज्य और विश्वधर्म की स्थापना के लिए उन्मुख इतिहास की धारा महान तपस्वियों को खोज रही है। यह काम, जिस तरह के लोग सार्वजनिक जमातों में लगे हुए हैं, उनसे संभव नहीं होगा। इसी चट्टान पर टकरा कर आनेवाले वर्षों में सर्वोदय, संघ, संसोपा, कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, सभी संस्थाएं टूटेंगी। फिर नये सिरे से अच्छे लोगों को इकट्ठा करने की चेष्टा करो। '

राममनोहर ने अपनी जेब से छोटी–सी नोटबुक निकाल कर उसके किसी पृष्ठ पर लिखा — 'कार्यक्रम और व्यक्ति'। और मुझे कहा — 'दिल्ली पहुंच कर मैं इस विषय पर लेख लिखूंगा।'

उस समय कौन जानता था कि दिल्ली पहुंच कर वे अपने जीवन का अंतिम अध्याय ही लिखने जा रहे हैं? बहुत से लोगों ने मुझ से पूछा है—'यह कैसा विधि का विधान है कि मौत आततायियों को लंबी आयु देती है और डॉ. लोहिया जैसे लोगों को अल्पायु में ही ले जाती है?' वे शायद नहीं जानते कि मुगल साम्राज्य के पतन के पीछे सिख गुरुओं के बलिदान का कितना बड़ा हाथ था। युग-परिवर्तन की कामना से उन्मुख इतिहास की देवी को राममनोहर के बलिदान की जरूरत थी, जैसे भवभूति ने रामचंद्र के मुख से कहलाया था—

"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥"

राममनोहर शोषित मानवता के चरणों पर अपनी बलि देकर चले गये। युग परिवर्तन के लिए उन्मुख छिन्नमस्ता समाज की (राजनीतिक, सांप्रदायिक, औद्योगिक आदि) ऊंची कुर्सियों पर बैठे गलित कुष्ठों की बलि लेकर क्या करेगी? उसे तो गांधीजी, साने गुरुजी, राममनोहर, मार्टिन लूथर किंग जैसे पवित्र रक्तों की बलि चाहिए।

"आगे क्या?" इसका उत्तर इतिहास के गर्भ में छिपा है। मैं भवभूति के शब्दों में यही कह सकता हूं:—

"उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥"

वह धीरवान कर्म-पुरुष

● रमा मित्र

राममनोहर लोहिया ने एक बार मुझे लिखा था— मैं कर्म और कर्तव्य की नदी सरयू का बेटा हूं, जिस पर रस और भावना की नदी यमुना का प्रभाव पड़ रहा है। मैं इससे 'खुश नहीं' हूं। उन्होंने राम, कृष्ण और शिव की व्याख्या करते हुए सरयू तट की अयोध्या के राम को कर्तव्य-पुरुष कहा था, मर्यादित व्यक्तित्ववाले देवता, जब कि यमुना तट के कृष्ण का व्यक्तित्व संपूर्ण, निर्बाध और बहुमुखी था। और शिव ? निस्सीम मस्तिष्क के, धीरज से काम करनेवाले देवता, जिनके किसी भी काम का औचित्य उसी काम में निहित रहता था। राम, कृष्ण और शिव की यह व्याख्या पहले 'मैनकाइंड' में प्रकाशित हुई। बाद में वह लेख 'इंटरवल ड्यूरिंग पालिटिक्स' में भी संकलित हुआ।

डाक्टर साहब को मैंने काफी करीब से जाना। उनके साथ मैं रुद्रप्रयाग से दक्षिण में कन्या कुमारी तक और दार्जिलिंग-गंगतोक से पश्चिम में द्वारिका-ओखा तक घूमी। इन सबके आधार पर मैं कह सकती हूं कि उन में उपरोक्त तीनों विशेषताएं थीं। उनके सभी काम, यहां मेरा मतलब अधिकतर राजनीतिक कामों से है लेकिन उनके दूसरे काम भी, पार्टी की नीतियां और नियमों की मर्यादा में बंधे रहते थे। उनकी वाणी और अभिव्यक्ति में पूर्णता और उल्लास था। बहुमुखी और सजीव, आनंदित और बच्चों की तरह सरल। उनके क्रियाकलापों तथा हरेक काम में धीरज रहता। फिर चाहे वे खजुराहो के मूर्तिमान सौंदर्य या एलोरा के कैलास के सामने निश्चल खड़े हुए अपने दिमाग में हिंदुस्तान के अतीत, उसके दर्शन, उसकी कला का अर्थ खोज रहे हों, या उस विचार को शब्दों अथवा कर्म में उतार रहे हों। चाहे लेख लिखना हो, या आम सभा में भाषण करना हो अथवा फिर सर्वोच्च न्यायालय के जज के सामने अपनी पैरवी करनी हो— हर काम वे पूरे धीरज से करते।

मुझे उनकी आंखों से हिंदुस्तान को देखने का सौभाग्य मिला, हालांकि अपने सहज उत्साह और महापुरुषों की सच्ची विनम्रता के कारण वे मेरी और

के एक छोटे–से संग्रहालय में खड़े मूर्तियों को देख रहे थे। बुद्ध और महावीर की मूर्तियों में बुनियादी फर्क क्या है? मैंने कहा–बुद्ध पूरी तरह शांत और सहज हैं, जबकि महावीर में तनाव है। बाद में उन्होंने इस विचार की अपने एक लेख 'मीनिंग इन स्टोन' में विस्तार से व्याख्या की। मैं इस घटना को भूल गयी थी। लेकिन उन्होंने अपने पत्रों में मुझे इसकी याद दिलायी। याद नहीं रखने के लिए झिड़का भी। ज्यादातर लोगों की तरह वह घटना मेरे लिए एक क्षण मात्र थी। मैंने उसे उसी रूप में जिया। लेकिन उनके लिए वह क्षण अनंत भी था, ठीक वैसे ही जैसे वे अनंत को क्षण में जीते थे। यह दूसरा अनुभव उनको ४२ की खुली बगावत के दिनों में लाहौर जेल में हुआ। इसका वर्णन उन्होंने 'एन एपिसोड इन योगा' वाले लेख में किया है। चाहे राजनीतिक काम के लिए या फिर आराम के लिए वे जहां कहीं भी जाते कुछ न कुछ काम निकाल लेते। वे कुछ न कुछ लिखते या बोलते, नये विचार देते। दूसरों को उन विचारों पर काम करने को कहते या किसी न किसी तरह की चुनौती देते रहते। कर्तव्य और आनंद का इतना सहज, इतना उत्कट, इतने शांत चित्त से समन्वय करनेवाला मुझे अन्य कोई नहीं दिखा।

१९६७ की जन्माष्टमी की सुबह उनको एक समारोह में बोलने जाना था। नाश्ते के तुरंत बाद उन्होंने भगवद् गीता मांगी। दुर्भाग्य से घर में भगवद् गीता नहीं थी। वे मुझ पर बेहद बिगड़े। बोले–तुम मेरे लिए एक ऐसा पुस्तकालय तक नहीं बना सकी, जिसमें राजनीति, दर्शन, कला और साहित्य की किताबों के साथ साथ गीता, वेद, उपनिषद, कुरान और बाइबिल भी हों। घर में कुरान, वेद, बाइबिल और रामचरित मानस तो थे, पर गीता नहीं थी। बोले–यह कैसा घर है, जिसमें गीता तक नहीं है? मैंने चुटकी लेने के लिए कहा–यह कोई धार्मिक लोगों का तो घर है नहीं। फिर तो वे बहुत ज्यादा नाराज हो गये। थोड़ी देर बाद जब वे शांत हुए तो मैंने कहा–मैं पड़ोसी के यहां से गीता मंगा लेती हूं। बोले-नहीं, रहने दो। परेशान मत होओ। तब मैंने पूछा–गीता की ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी? उन्होंने कहा–मैं विश्वरूप वाले अध्याय में से एक श्लोक भूल रहा था। लेकिन अब याद आ गया। फिर उन्होंने बताया कि अमरीका में उन्होंने एक किस्सा सुना था–उसकी जांच तो मैं नहीं कर पाया, पर कहते हैं कि जब पहला परमाण्विक विस्फोट किया गया, तब वहां के मशहूर वैज्ञानिक ओपनहीम ने विश्वरूप वाले अध्याय में से एक श्लोक पढ़ा था। जब वे सभा मे जाने लगे, तो बोले–तुम भी साथ चल रही हो न! मैंने कहा–नहीं, मुझे कुछ दूसरा काम है। वे स्नेह से मुस्कराये और बोले-क्या तुम मेरे भाषणों से ऊबने लगी हो? लेकिन मैं तुम्हें कहूं कि उनमें हमेशा कुछ न कुछ नया होता है, कोई न कोई नया विचार, कोई न कोई नयी अभिव्यक्ति! और यह बिलकुल सच था। हमारे जैसे जड़ और लीक-लीक चलनेवाले समाज में

वे पूरी तरह से विद्रोही थे। नये रास्तों के अन्वेषक। उस दिन वे बहुत शरारत की तरंग में थे। उनको पूर्वी जर्मनी के हेले विश्वविद्यालय से मार्टिन लूथर के साढ़े चार सौवें उत्सव में भाग लेने का निमंत्रण मिला था। बोले—कल्पना करो मैं पूर्वी जर्मनी जैसे लीक-लीक चलनेवाले साम्यवादी देश में प्रोटेस्टेंट और विद्रोही लूथर पर बोल रहा हूं। लेकिन वे उस उत्सव में नहीं जा सके। अक्तूबर १९६७ में वह उत्सव हुआ, तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।

१९५८ में उन्होंने एक पत्र में लिखा—मैं कागज पर और कल्पना में कृष्ण के मथुरा—वृंदावन मार्गों को अंकित करना चाहता हूं। १९६२ के चुनाव के बाद उन्होंने यह काम किया। उन्होंने वृंदावन और मथुरा में कोई एक महीना बिताया। वे कृष्ण और राधा के रास्ते खोजते रहे। साथ ही साथ मथुराधीश, कंस का नाश करनेवाले, कालिया का दमन करनेवाले कृष्ण की राहें भी तलाशते रहे। लेकिन बीसवीं सदी का वृंदावन पुराना वृंदावन नहीं था। वह चौदहवीं से सोलहवीं सदियों तक की बंगला वैष्णव पदावलियां का तो वृंदावन नहीं ही था। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अपने एक बंगाली प्राध्यापक से राधा शब्द की व्युत्पत्ति पूछूं। उनको पता था कि राधा का जिक्र महाभारत या विष्णु अथवा भागवत पुराण में नहीं आया है। मैंने पता लगाया। मेरे प्राध्यापक ने मुझे बताया कि यह बाद की उत्पत्ति है और 'आराधना' शब्द से निकला है।

उनके पत्रों में यह बात बार—बार दोहरायी जाती थी कि मैं असफल रहा हूं। लेकिन उनमें नयी शक्ति जुटाने की अपार और सर्वोपरि क्षमता थी। वे कभी हारे नहीं। एक बार उन्होंने विदेश से लिखा—"क्या इतिहास सिर्फ सफलताओं का ही लेखा-जोखा है, तब असफलताएं कहां जायेंगी?" फिर जिस पत्र में उन्होंने मथुरा—वृंदावन मार्गों को खोजने की बात कही थीं, उसी में लिखा था—"हृदय में कितना ही दर्द क्यों न उठे, असल में वह दर्द उठ भी रहा है, फिर भी आदमी को अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए। सोशलिस्ट पार्टी के लिए लड़ाई जारी रहनी चाहिए।" उनको जन्मदिवस और मृत्युतिथि जैसे कर्मकांडों से घृणा थी। लेकिन अपना कर्तव्य करते जाने के उनके शब्दों को याद करके ही मैं ये शब्द लिख रही हूं—उस आदमी के बारे में जो आज हमारे बीच नहीं है। १३ दिसंबर, १९५७ का एक और पत्र—"मैं लगातार नाकामयाब रहा हूं। लेकिन मुझे शिकायत नहीं करनी चाहिए। मैंने पराजय के दर्शन की बात कही है, पर उसे अमल में लाना कितना कठिन है! लेकिन फिर भी काम जारी है...।" कभी—कभी हैरत होती है कि क्या वे सचमुच असफल रहे। शायद तात्कालिक इतिहास की दृष्टि से वे असफल रहे, लेकिन असफलता भी कितनी शानदार! इतिहास तो ऐसी असफलताओं से ही भरा हुआ

है। लेकिन इससे इतिहास या अपने देशवासियों या मनुष्य जाति को उनका योगदान कम नहीं हो जाता। १९४७ के बाद तात्कालिक इतिहास की दृष्टि से तो गांधीजी भी असफल ही रहे।

धीरज से काम की उनकी विशेषता की यह चर्चा मैं एक छोटे-से संस्मरण के साथ खत्म करूंगी। यह घटना उनके विनोदी स्वभाव और गहरी दृष्टि का संकेत देती है। वे नयी दिल्ली वाले अपने घर में सुबह की चाय लेते समय चिड़ियों और गिलहरियों को चुग्गा देते थे। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि डाक्टर साहब मुझसे चुग्गा दिलवाते थे। उनको इस बात का खास खयाल रहता कि रोटी के टुकड़े बिल्कुल छोटे हों, नहीं तो वे चिड़ियों के गले में फंस जायेंगे। मुझे कालेज जाने की जल्दी रहती और उसके पहले उनका नाश्ता भी तैयार करना होता। चिड़ियाएं उनकी कुर्सी के आसपास आकर या कंधों पर चढ़ कर चुग्गा चुगने लगतीं और गिलहरियां उनके हाथ से चुग्गा लेतीं। इतने में कौवे आने लग जाते। मैं डाक्टर साहब को एक लकड़ी दे देती कि वे इससे कौवों को भगाते रहें। डाक्टर कहते—गरीब कौवों को भी खाने दो न! लेकिन मैं साफ इंकार कर देती। एक तो कौवे चिड़ियों और गिलहरियों को डरा कर भगा देंगे, दूसरे वे गंदे होते हैं—मैने एक दिन कहा। उन्होंने तुरंत चुटकी ली–"यानी कौवे पक्षियों में हरिजन हैं–क्या तुम भी ऐसा समझती हो?" यह थी उनकी स्पष्ट दृष्टि। उन्होंने ठीक ही तो कहा था, जाति हमारे समाज में इतनी गहरी घुसी हुई है कि हम पक्षियों को भी उसी तरह से देखने लगते हैं।

मैंने एक बार उनसे पूछा–जीवन का अर्थ क्या है? उन्होंने कहा–"यह जानते हुए भी कि एक न एक दिन मृत्यु आयेगी, जीवन को पूरी तरह से और बिना संताप के जीना। जीवन का उद्देश्य यही है कि हम मृत्यु के लिए तैयार हों।" उन्होंने सचमुच यही किया। वे सत्तावन वर्ष जिये और मृत्यु का सामना करने को पूर्णतया तैयार रहे। जीवन और मृत्यु पर उनके इन शब्दों के साथ ही मैं उनके पांचवें मरण दिवस पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूं। वे सचमुच ही जीवन और मृत्यु के बारे में अपने शब्दों पर अमल करनेवाले व्यक्ति थे।

●

एक नयी सभ्यता का सपना

● ओम प्रकाश दीपक

राममनोहर लोहिया बुद्धिजीवियों की उस पीढ़ी में से थे, जो पहले और दूसरे महायुद्ध के बीच की क्रांतिकारी अवधि में जवान हुई। यह अवधि थी जब सारी दुनिया में समता और समृद्धि पर आधारित एक नयी सभ्यता का सपना देखा जा रहा था। गंभीर मतभेदों के बावजूद सारी दुनिया में क्रांतिकारियों की एक बहुत बड़ी बिरादरी थी। १९१७ में रूस की बोलशेविक क्रांति हुई थी। उसके तीन साल बाद गांधीजी ने हिंदुस्तान में अपना पहला असहयोग आंदोलन छेड़ा था। सारी दुनिया में विचार का केंद्र स्वयं मनुष्य था, उसका भविष्य, उसकी नयी सभ्यता।

नयी सभ्यता के अंतर्गत एक व्यापक दायरे में मतभेदों का होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता था। और इसलिए अपनी पीढ़ी के अन्य बुद्धिजीवियों की तरह लोहिया को भी यही लगता था कि भारत और अन्य पराधीन देशों के साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन, सारी दुनिया के समाजवादी और साम्यवादी आंदोलन, लोकतांत्रिक और मानवतावादी विचारधाराएं, ये सब अपने आपसी मतभेदों के बावजूद मनुष्य को तेज़ी से अपनी नियति की ओर, एक नयी समता-मूलक विश्व सभ्यता की ओर ले जा रहे थे। उस काल का आशावाद इतना जबर्दस्त था कि लोहिया का ऐसा सोचना कि सारी दुनिया में शीघ्र ही वर्णसंकर, मिश्रित रक्तवाली एक ही जाति हो जायेगी, कुछ अजीब नहीं था।

कुछ स्पष्ट विकृतियों के बावजूद, सोवियत रूस भविष्य की इस नयी सभ्यता पहला प्रयोग प्रतीत होता था—किसानों और मजदूरों का अपना राज्य। लोहिया रूढ़ अर्थों में कभी भी मार्क्सवादी नहीं थे, लेकिन आरंभ में वे भी ऐसा ही मानते थे। इस धारणा को पहला बड़ा धक्का १९३६–३७ में उस समय लगा जब स्टालिन ने बोलशेविक क्रांति के अपने पुराने सहयोगियों का सफाया करना शुरू किया। इस काल की क्रांतिकारी भावना का अंतिम स्फुरण स्पेन का गृह-युद्ध था, जिसमें कितने

ही देशों के नवयुवक बुद्धिजीवी जा कर लड़े, और बहुतेरे शहीद भी हुए। स्पेन में क्रांति रणक्षेत्र में पराजित हुई, फिर भी सब मिला कर स्थिति बिल्कुल निराशाजनक नहीं हुई थी। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रतिक्रांति की शक्तियां फासिज्म के रूप में अपनी आखिरी लड़ाई लड़ रही हैं, और उनके पराजित होने पर नयी सभ्यता के निर्माण का रास्ता खुल जायेगा। लेकिन जब रूस ने १९३८ में हिटलर के साथ अनाक्रमण संधि कर ली, तब कम-से-कम लोहिया जैसे व्यक्तियों के लिए रूस में और पश्चिम के क्रांतिविरोधी, तथाकथित लोकतांत्रिक देशों में कोई बुनियादी फर्क नहीं रह गया। पश्चिमी सभ्यता अपनी सीमाओं को लांघ कर अपना नवीकरण कर सकेगी, इसकी आशा नहीं रह गयी। फिर जब १९४२ में साम्यवादियों ने भारत–छोड़ो आंदोलन के समय अंग्रेजी राज की मुखबिरी करना कबूल किया, तो लोहिया को साम्यवाद से नफरत-सी हो गयी।

नयी सभ्यता के विकास का दूसरा प्रयोग हिंदुस्तान में हो रहा था। यह कोशिश थी तमाम एशिया और अफ्रीका के लोगों द्वारा स्वतंत्र होने और अपना विकास करने की। रूस और यूरोप के मार्क्सवादी व अन्य परंपरागत समाजवादियों की ओर से निराश होने के बाद लोहिया ने अपना स्वतंत्र विचार–दर्शन निर्मित किया, जिसके केंद्र में गांधीजी के नेतृत्व में चल रहा भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और उसके एक उग्र अंग के रूप में भारतीय समाजवादी आंदोलन था।

१९३८ में लोहिया ने पहली बार तीसरे खेमे का सिद्धांत प्रतिपादित किया। और १९५४ में एक एशियाई भाषा और एक विश्व भाषा के विकास की संभावना प्रस्तुत करके उन्होंने जैसे नयी सभ्यता के अपने नकशे में आखिरी रंग भरे। इस सोलह वर्ष की अवधि में उन्होंने अर्थशास्त्र, राजव्यवस्था और इतिहास–दर्शन संबंधी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए नयी सभ्यता की अपनी कल्पना का एक समग्र विचार–दर्शन निर्मित किया।

यह एक दिलचस्प बात है कि लोहिया ने इस विचार–दर्शन के सभी पहलुओं का कहीं एक जगह विस्तृत विवेचन नहीं किया। उनका चिंतन खंडों में, पहलुओं में मिलता है। इसके पीछे उनकी चिंतन–दृष्टि की विशिष्टता भी हो सकती है, जैसा खुद उन्होंने एक जगह संकेत किया था, लेकिन इसका कारण निश्चय ही यह भी था कि उनका व्यक्तित्व बहुत–कुछ एक पूर्ण व्यक्तित्व था। इन्हीं सोलह वर्षों की अवधि में लोहिया ने सन बयालीस के विद्रोह का नेतृत्व किया, गोआ और नेपाल के विद्रोह किये, कलकत्ता, नोआखली और दिल्ली में सांप्रदायिक आग को ठंडी करने में गांधीजी की सहायता करते रहे, हिंद किसान पंचायत का संगठन किया, सारी दुनिया का दौरा करके एशियाई समाजवादी सम्मेलन संगठित किया, पांच या छह बार पकड़े गये, लगभग दो साल फरारी में और तीन–साढ़े तीन साल जेल में काटे,

जिसमें लगभग डेढ़ साल लाहौर किले की यातना भी शामिल थी। ऐसा व्यक्ति टुकड़ों में ही अपनी बात कह सकता था। लेकिन लोहिया के विचारों में पूर्ण आंतरिक सामंजस्य है। छोटी-से-छोटी बात भी उनकी शेष विचार-व्यवस्था से मेल खाती है। इसका कारण भी वही व्यक्तित्व की समग्रता थी।

क्या था लोहिया का यह नयी सभ्यता का नकशा? उसकी मूल धारणाएं वही थीं, जो १९३८ के पहले थीं। अपने जीवन के अंतिम काल में १९६६ में, जब लोहिया आमतौर पर केवल ठोस कार्यक्रमों की बात किया करते थे, उन्होंने 'समता संपन्नता' को समाजवाद की सर्वोत्तम परिभाषा कहा था। लेकिन १९३८ के बाद उन्हें विश्वास हो गया था कि पश्चिम की आधुनिक सभ्यता अपनी एकांगिता को दूर करके, स्वयं अपने ही प्रयासों से पूर्णता और समग्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकेगी। और, पश्चिमी सभ्यता के बाहर, गांधी का हिंदुस्तान ही था, जहां कुछ नये मूल्यों की प्रतिष्ठा हो रही थी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि हिंदुस्तान से एक नयी सभ्यता के जन्म की संभावना लोहिया ने देखी।

इस नयी सभ्यता की कल्पना के केंद्र में था मनुष्य का पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व, जिसमें विचार और कर्म का मेल हो, जो निरंतर सक्रिय होने के साथ-साथ संतुलित और मर्यादित हो। और इसके साथ ही उसमें मानवीय करुणा का समावेश हो। जाहिर है कि ऐसे व्यक्तित्व का विकास मनुष्य और मनुष्य के बीच अधिकतम संभव समता पर आधारित व्यवस्था में ही हो सकता है। लोहिया ने सबसे पहले समस्या के आर्थिक पक्ष का विवेचन किया।

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता ने राष्ट्रीय सीमाओं के अंदर जितनी अधिक आर्थिक-सामाजिक समता उपलब्ध की है, उतनी इतिहास में पहले कभी नहीं रही। लेकिन जिस आर्थिक संपन्नता ने इस समता को संभव बनाया, वह दुनिया के एक तिहाई हिस्से, यूरोप-उत्तरी अमरीका की गोरी दुनिया को बाकी दो-तिहाई रंगीन चमड़ी वाले लोगों के साम्राज्यवादी शोषण से ही प्राप्त हुई थी। लोहिया ने कहा कि राष्ट्रों के अंदर ही नहीं, राष्ट्रों के बीच भी समता होनी चाहिए। यानी दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों की शक्ति और समृद्धि में थोड़ा बहुत अंतर तो रह सकता है, लेकिन किसी एक क्षेत्र का प्रभुत्व नहीं। जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों मे यूरोप का औद्योगीकरण हुआ, उनको बाकी दुनिया में दोहराया नहीं जा सकता। अतः यूरोप-अमरीका के ढांचे पर सारी दुनिया के औद्योगिक विकास की चेष्टा निष्फल और विनाशकारी होगी। लोहिया ने इस समस्या के हल के लिए छोटी मशीन की अर्थव्यवस्था की योजना प्रस्तुत की। लोहिया की छोटी मशीन हस्त-शिल्प या कुटीर-उद्योग की चीज नहीं थी, बल्कि बिजली या पेट्रोल या अणु-शक्ति से चलने वाली छोटी मशीन, जिसमें कम पूंजी से ही उत्पादन-क्षमता बढ़ायी जा सके। इसी का दूसरा पहलू था कि मजदूर का अपने औजार से अधिक

प्रत्यक्ष संबंध हो, मशीन आदमी पर हावी न हो, मनुष्य उसका मालिक और संचालक हो। इसकी एक पूर्व-आवश्यकता थी पूंजी और उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को किराये पर मजदूर न रख सके।

सामाजिक स्वामित्व के साथ जुड़ी हुई समस्या थी कि ऐसी हालत में राज्य को सर्वग्राही और राक्षसी होने से कैसे रोका जाये। इसके उत्तर में लोहिया ने विकेंद्रित राज्य की कल्पना प्रस्तुत की–चौखंभा राज। राज्य की शक्ति तोड़ कर केंद्र और प्रांत के अलावा जिले और गांव में बांट दी जाये। अर्थशास्त्र का सिद्धांत था कि बड़ी पूंजी वाली मशीन वहीं लगायी जाये जहां आवश्यकता हो, और जहां तक संभव हो छोटी मशीनों वाले उद्योग-धंधे निर्मित किये जायें। उसी के समानांतर राज्य-व्यवस्था का सिद्धांत आया कि केंद्र और प्रांत में उतनी ही शक्ति रहे जितनी आवश्यक हो, जैसे पलटन केंद्र में और और हथियारबंद पुलिस प्रांत में, और जहां तक संभव हो अधिक-से-अधिक शक्ति जिला और गांव में रहे, जैसे सामान्य पुलिस जिले में और सारे विकास कार्य गांव में। राष्ट्रों के बीच समता और विश्व-सभ्यता के लिए पांचवां खंभा बालिग मताधिकार पर चुनी गयी विश्व-पंचायत का, और सीमित अधिकारों वाली विश्व सरकार का हो।

मानवीय करुणा के साथ-साथ संतुलित कर्म के लिए लोहिया ने गांधी जी के सत्याग्रह को सिविल नाफरमानी के रूप में अपनाया। तर्क अपने आप में काफी नहीं होते, लेकिन हिंसा का बल हमेशा तर्क के या औचित्य के पक्ष में नहीं होता। इसके अलावा, हिंसा केवल अपने से दुर्बल शत्रु के विरुद्ध ही कारगर होती है। सिविल नाफरमानी को लोहिया ने तर्क के 'बल' के रूप में रखा। उसके जरिये तर्क अन्य प्रकार के बल का मुकाबला कर सकता है, लेकिन उससे समाज को किसी तरह की क्षति नहीं पहुंचती। इसके साथ ही लोहिया ने 'साक्षात्कार' का सिद्धांत प्रस्तुत किया कि दीर्घकालीन लक्ष्य और अल्पकालीन कार्यक्रम में केवल समय का अंतर होता है, और इसलिए हर कार्य का औचित्य खुद उसमें ही होना चाहिए।

लोहिया ने कहा कि इतिहास का कोई अटल नियम नहीं होता, लेकिन उससे कुछ संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं, क्योंकि हर स्थिति में विकल्प तो होते हैं, लेकिन सीमित विकल्प ही होते हैं, असीमित नहीं। सभ्यताओं के उत्थान-पतन की व्याख्या करते हुए लोहिया ने कहा कि अब तक की सभी सभ्यताएं एकांगी और क्षेत्रीय रही हैं। हर सभ्यता एकांगी होने के कारण एक ही दिशा में बढ़ते-बढ़ते प्राचीन दीर्घकाय पशुओं की तरह अपने ही बोझ से दब कर टूट जाती है या जड़ होकर सड़ने लगती है। फलस्वरूप समाज गतिशील होने पर ढीले और लचीले वर्गों में बंटा रहता है, और जड़ होने पर ये वर्णों (जातियों) के रूप में स्थिर हो जाते हैं।

लोहिया ने कहा कि आज विश्व में ऐसी परिस्थितियां मौजूद हैं, जिनमें मनुष्य वर्णों की जड़ विषमता, वर्गों की लचीली विषमता और दोनों ही स्थितियों में निहित अन्याय और शोषण, क्षेत्रीयता, और हिंसा के चक्र को तोड़ कर एक विश्व सभ्यता का निर्माण कर सकता है, जो सभी प्रकार के शोषण से मुक्त हो, जिसमें मनुष्य स्वतंत्र, समृद्ध और मन से सुखी हो, और अपने संपूर्ण व्यक्ति का विकास कर सके।

जब तक गांधीजी जीवित थे, लोहिया का खयाल था कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन इस नयी सभ्यता का अगुआ बनेगा। १९४५ में हैरोल्ड लास्की को लिखे गये पत्र में लोहिया ने यह आशा व्यक्त की थी कि राज्य निर्माण का मौका मिलने पर कांग्रेस अहिंसा पर आधारित राज्य का निर्माण करेगी। लेकिन १९४६ में ही कांग्रेस कार्यकारिणी ने यह मत प्रकट किया कि अहिंसा उसके लिए केवल एक सामयिक नीति है, स्थायी सिद्धांत नहीं। फिर आजादी के बाद तो कांग्रेस ने यह भयंकर सिद्धांत प्रतिपादित किया कि जनता को संगठित हिंसा तो क्या, संगठित अहिंसात्मक प्रतिकार का भी अधिकार नहीं है, लेकिन राज्य को मनमानी हिंसा करने का अधिकार है।

लेकिन गांधीजी की मृत्यु के बाद भी स्थिति आशाजनक प्रतीत होती थी। एशिया के देश एक-एक करके स्वतंत्र हो रहे थे, अफ्रीका में भी राष्ट्रवादी आंदोलन जोर पकड़ रहे थे। यूरोप की राजनीति में एक वामपक्षी लहर उठती प्रतीत होती थी, और टीटो के विद्रोह से ऐसा लगता था कि साम्यवाद में भी दरार पड़ रही थी। विश्व सरकार आंदोलन भी मुखर था। लेकिन १९५४ तक यह सारी स्थिति बिल्कुल बदल गयी थी। यूरोप का समाजवादी आंदोलन शीत युद्ध का शिकार हो गया। सारे एशिया का दौरा करके लोहिया ने एशियाई समाजवादी सम्मेलन के संगठन को संभव बनाया, लेकिन यह भी पंगु साबित हुआ। टीटो ने युगोस्लाविया को रूस के प्रभुत्व से मुक्त तो किया, लेकिन अपनी तानाशाही बरकरार रखी। वस्तुतः १९५० के बाद नयी सभ्यता की, तीसरे खेमे की शक्तियां कहीं पनप भी नहीं सकी। युगोस्लाविया में लोहिया के दोस्त मिलोवान जिलास को कैद कर लिया गया। कांगो में लुमुंबा की हत्या हो गयी। पाकिस्तान में खान अब्दुल गफ्फार खां बराबर जेल में ही रहे। और खुद लोहिया का ही एक पांव जेल के अंदर रहाता था, तो एक बाहर।

इसका मुख्य कारण यह था कि पश्चिमी सभ्यता राजनीतिक क्षेत्र में कुछ समय के लिए पीछे हटी, लेकिन आर्थिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका प्रभुत्व बना रहा, और उसकी मदद से बाद में उसका राजनीतिक प्रभाव भी फिर से स्थापित हो गया। पश्चिमी देशों ने एशिया-अफ्रीका के अपने सारे उपनिवेशों में एक पश्चिम-अभिमुख, यूरोपीय रहन-सहन और आचार की ऊपरी नकल करने वाले वर्ग

का निर्माण किया था, और हर जगह यही वर्ग सत्तारूढ़ हुआ। फिर यूरोप-अमरिका ने इस वर्ग को सत्तारूढ़ बनाये रखने के लिए हर तरह की मदद पहुंचायी। १९५४ का वर्ष समाप्त होने तक यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय समाजवादी आंदोलन को नयी सभ्यता का एक सक्षम उपकरण बनाने की लोहिया की चेष्टा भी असफल हो गयी थी।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दुनिया का राजनीतिक नकशा बिल्कुल बदल गया। साम्राज्यवाद ने एक अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म रूप ग्रहण किया। प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व अब नहीं रहा, लेकिन उत्पादनशक्ति की विषमता बनी रही, बढ़ती गयी, और इस तरह एशिया–अफ्रीका का शोषण भी बढ़ता गया। राज्य की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गयी, यूरोप-अमरीका ने एशिया-अफ्रीका के नये शाशक-वर्ग को लालच दे कर खरीद लिया। यह प्रक्रिया इतनी दूर तक चली कि पश्चिमी प्रभाव से मुक्त किसी प्रकार की संगठित राजनीति का चलना असंभव जैसा हो गया।

लोहिया इस बात को अच्छी तरह जानते थे की संगठित राजनीति की शक्ति के बिना नयी सभ्यता के निर्माण का कोई कारगर औजार नहीं बन सकता। खुद हिंदुस्तान में दिनोदिन अधिकाधिक ढपोरशंखी होता हुआ भूदान आंदोलन उनके सामने था (भूदान, ग्रामदान, जीवनदान वगैरह के बाद अब बिहारदान, कल शायद देशदान होगा और भूदानी यह मान कर निश्चित हो जायेंगे की उन्होंने क्रांति कर ली)। यूरोप का शांति आंदोलन इसी प्रकार व्यापक जन-समर्थन के बावजूद, संगठित राजनीतिक को प्रभावित न कर पाने के कारण असफल हो गया। यहां तक कि संगठित राजनीतिक शक्ति न बन पाने के कारण अमरीका का जातिभेद-विरोधी आंदोलन भी काफी बलिदानों और व्यापक सिविल नाफरमानी के बावजूद गतिरोध का शिकार हो गया।

ऐसी सूरत में लोहिया के सामने एक ही रास्ता रह गया कि भारत की अवरुद्ध क्रांति के मार्ग को पुनः उन्मुक्त करें। इसके लिए उन्होंने उन शक्तियों और समस्याओं पर उंगली रखी, जो भारतीय क्रांति के मार्ग में बाधक हैं, और उनके विरुद्ध व्यापक आंदोलन संगठित किये—अंग्रेजी के प्रभुत्व के खिलाफ, जाति-प्रथा के खिलाफ, दिमागी जड़ता और गुलामी के खिलाफ, नर-नारी समानता के लिए, दामों की लूट के खिलाफ, शासक वर्ग की विलासिता के खिलाफ सादगी और कर्तव्य की भावना के लिए, सीमा सुरक्षा के लिए और देश के नकली बंटवारे के खिलाफ, गरीब किसानों को राहत देने, और नये ढ़ग से खेती–कारखानों के विकास के लिए। उन्होंने कोशिश की कि समाजवादी दल ऐसे सवालों पर सिविल नाफरमानी करके न सिर्फ लोगों का मन बदले,

बल्कि दृढ़ संकल्प वाले अहिंसक लड़ाकुओं का एक समूह भी संगठित करे। इन सवालों को लेकर उन्होंने समाजवादी दल ही नहीं, बल्कि अन्य राजनीतिक दलों की भी दृष्टि को बदलने की कोशिश की, ताकि ये समस्याएं भारत की संगठित राजनीति का विषय बनें, और राजनीति के टकराव में इन समस्याओं को हल करने वाली शक्तियां फूटें।

लोहिया ने यह देखा कि इस तरह कि लड़ाइयां बाकी दुनिया में भी लड़ी जा रही है, गो आमतौर पर संगठित राजनीति में उतनी नहीं, जितनी उसके बाहर—नर-नारी समता के लिए, कुछ व्यक्तियों द्वारा बहुसंख्यक समाज के शोषण के खिलाफ, राज्य द्वारा व्यक्ति के निजी जीवन में हस्तक्षेप के खिलाफ, शांति के लिए और युद्ध के खिलाफ, सिविल नाफरमानी के हक में, हिंसा के खिलाफ। लोहिया को विश्वास था कि इन लड़ाइयों में जीत परिवर्तन के, एक नये मानव-समाज का निमाण करने के पक्षधरों की ही होगी।

इसके अलावा लोहिया ने बीसवीं सदी में मनुष्य-जाति के सामने खडे सबसे बढ़े सवाल को भी देखा। मनुष्य ने आज ऐसे हथियार बना लिये हैं जिनसे समूची मनुष्य जाति का विनाश हो सकता है। मनुष्य के सामने अब दो ही विकल्प है, और लोहिया का विश्वास था कि बीसवीं सदी समाप्त होने के पहले ही मनुष्य को इस विकल्प का सामना करना पड़ेगा—या तो संहार के इन उपकरणों का इस्तेमाल और मनुष्य जाति का विनाश हो, या फिर एक नये मानवसमाज का निर्माण हो, जिसमें स्थायी शांति हो। लेकिन लोहिया इस बात को जानते थे कि केवल मौखिक क्रांतिकारिता वाला शक्तिहीन भारत सही चुनाव करने में मनुष्य जाति की कोई मदद नहीं कर सकता। खुद एक कमजोर और संकल्पहीन राष्ट्र रह कर हिंदुस्तान दुनिया को शांति और समृद्धि का मार्ग नही दिखा सकता। इसलिए उन्होंने खुद अपनी ताकत भारत की आंतरिक शक्ति को जगाने और संगठित करने की कोशिश में लगायी।

इसमें मुझे कोई शक नहीं है कि मनुष्य ने अगर आत्मघात का मार्ग न चुन कर शांति और समृद्धि का मार्ग चुना तो उसे मोटे तौर पर उसी तरह की सभ्यता का निर्माण करना होगा, जिसकी कल्पना लोहिया ने प्रस्तुत की—जिसमें राष्ट्रों के अंदर ही नहीं राष्ट्रों के बीच भी समानता हो, और यह समानता केवल कानूनी ही नहीं, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में हो।

लोहिया खुद सफलता-असफलता के बीच झूल रहे थे, और मनुष्य के सामने अभी आखिरी विकल्प का मौका नहीं आया कि लोहिया की मृत्यु हो गयी।

लेकिन इस वक्त उनकी इस बात को याद कर लेना चाहिए कि इतिहास के कोई अटल नियम नहीं होते। इतिहास की समझ सहायक हो सकती है, लेकिन विकल्प का चुनाव मनुष्य को खुद करना होगा। और इसके लिए लड़ना होगा, हर क्षेत्र में, हर समय, निरंतर लड़ना होगा।

अंत में मैं एक घटना का जिक्र करना चाहूंगा जिससे संकेत मिलता है कि लोहिया का दिमाग खुद किस तरह काम करता था। बात मार्च–अप्रैल १९६७ की है, जब राष्ट्रपति चुनाव की चर्चा चल रही थी। कुछपत्रकारों से बात करते हुए लोहिया ने कहा—किसी वज्र संकल्प और लचीले दिमाग वाले आदमी को राष्ट्रपति होना चाहिए। मुझमें दोनों गुण हैं, लेकिन इस चुनाव के मतदाता मुझे पसंद नहीं करेंगे। पत्रकारों के चले जाने के बाद लोहिया कुछ हंस कर बोले—मुझे राष्ट्रपति बना दें तो पहला काम मैं शायद यही करूं कि पलटन को बर्खास्त कर दूं।

●

लोहिया की इतिहास-दृष्टि

• राजेश्वरी प्रसाद

डा. राममनोहर लोहिया की पुस्तक 'इतिहास-चक्र' में छोटे पैमाने पर इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र से संबंधित विचार उपस्थित किये गये हैं। इस निबंध में पुस्तक के ग्यारह अध्यायों में से सिर्फ आठ अध्यायों को ही सम्मिलित किया गया है और मेरा मुख्य ध्येय इतिहास-चक्र से संबंधित विचारों को ही सामने रखना है, यद्यपि प्रसंगवश अन्य विषयों की चर्चा भी हो गयी है।

मुख्य विषय पर आने से पहले पुस्तक के पहले अध्याय में वर्णित इतिहास एवं जीवन के ध्येय के संबंध में चर्चा उचित होगी। इस संबंध में उन्होंने किसी नयी विचारधारा का प्रतिपादन नहीं किया है। इस मान्यता का पता चलता है कि जीवन का ध्येय सिर्फ भौतिक अथवा आर्थिक ही नहीं है। आर्थिक एवं भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति के लिए नये-नये औजारों के बनानेवाले के रूप में मनुष्यों की परिभाषा पर्याप्त नहीं है। वह चिंतनशील प्राणी भी है और उसका चिंतन अपने तथा दूसरों के साथ या यों कहें कि असीम के साथ संबंधों से बंधा हुआ है। जब मनुष्य अपने अतिरिक्त दूसरों की भी चिंता करने लगता है तब उसके जीवन का ध्येय आरंभ होता है। दूसरों में ईश्वर और मनुष्य दोनों सम्मिलित हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विगत युगों में मनुष्य ने ईश्वर के संबंध में चिंतन किया था और उसके विषय में कुछ जान लेना या समझ लेना चाहा था। अपने को एक असीम सत्ता का अंश मानकर उसने दूसरों के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। शायद इतिहास से मनुष्य के जीवन का यही ध्येय प्रमाणित होता है-असीम के साथ क्षुद्र के संबंध का पता लगाना। यद्यपि समय-समय पर मनुष्यों का यह ध्येय छिप जाता है और अन्य सारी वस्तुएं ऊपर आ जाती हैं, फिर भी, जैसा लोहिया ने कहा है, वह जाने या अनजाने बराबर इन प्रश्नों का उत्तर पाना चाहता है-मैं कहां से आया

हूं ? कहां जाऊंगा ? मेरी स्थिति क्यों और कैसे है ? इन्हीं आधारभूत प्रश्नों का उत्तर पाने के क्रम में मनुष्य ने प्रत्येक युग में विशिष्ट संस्थाओं का निर्माण किया, युद्ध और शांति की बातें कीं और इस तरह इतिहास-निर्माण करता गया।

लोहिया के ये विचार नये तो नहीं है, लेकिन किसी समाजवादी के लिए ऐसे विचार रखना और उनका स्पष्ट उल्लेख करना ध्यान देने की बात है। पुस्तक का मुख्य विषय ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारण और क्रम का विश्लेषण है, इसे ही इतिहास-चक्र का नाम दिया गया है।

ऐतिहासिक परिवर्तनों के संबंध में अनेक मत हैं, जिन्हें मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है। एक मत के अनुसार ऐतिहासिक परिवर्तन एक निश्चित परिधि में चक्राकार चलता रहता है। आसुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य निरंतर संघर्षरत है। ऐतिहासिक परिवर्तन इस संबंध में किये गये प्रयत्नों की सफलता-विफलता के परिणाम हैं। लेकिन मनुष्य की सफलता और विफलता कभी निर्णयात्मक रूप ले नहीं पाती। समयानुसार सफलता विफलता में और विफलता सफलता में परिणत होती रहती है। सतयुग से त्रेता से द्वापर से कलियुग-इस तरह हिंदू दार्शनिकों के अनुसार काल-चक्र बदलता रहता है। हिंदुओं के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने भी इस मत को माना है और इतिहास के विभिन्न युगों को युग-विशेष की मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारा है। लेकिन आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के अभ्युदय और विकास के साथ ही चक्रवत परिवर्तन का सिद्धांत बलहीन हो गया।

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता तर्क और विज्ञान पर आधारित है। जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए नये-नये वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार एवं व्यवहार किया जाता है। आरंभ में इस सभ्यता के प्रयोगों को आशातीत सफलता मिली, जिसके कारण ऐतिहासिक परिवर्तनों के संबंध में नये सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। इस सिद्धांत का मूलमंत्र विकास है, जिसके अनुसार परिवर्तन चक्रवत नहीं होते वरन् एक पिछड़े स्तर से उच्चतर स्तर पर विकासक्रम चलता है। यूरोप में जीवन की बढ़ती हुई सुविधाओं और रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर को माप-दंड मान कर विगत सभ्यताओं को प्राचीन और मध्ययुगीन मान लिया गया है, क्योंकि इस मत के दार्शनिकों के अनुसार उनका आधार तर्क न होकर अंधविश्वास था। ऐसा भी मान लिया गया है कि आधुनिक सभ्यता की तुलना में विगत सभ्यताएं पिछड़ी हुई थीं। यह निष्कर्ष निकाला गया कि इतिहास का परिवर्तन विकासोन्मुख है, चक्रवत नहीं। लेकिन लोहिया ने इस मत को संकुचित और भ्रामक माना है, जिसमें आधुनिक यूरोपीय सभ्यता को संसार की उच्चतम सभ्यता और आधुनिक युग

को सर्वाधिक सभ्य युग मान लिया गया है। अनेक पाश्चात्य दार्शनिक भी विकासोन्मुख परिवर्तन के इस सिद्धांत को संशयात्मक दृष्टि से देखने लगे हैं। इनमें नौथ्रोप, सोरोकिन, स्पेंगलर, टॉयनबी प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक परिवर्तनों के संबंध में १९वीं शताब्दी का सबसे प्रभावशाली सिद्धांत मार्क्स का है। मार्क्स के अनुसार मानव-इतिहास चार स्तरों से होकर गुजरा है—आदिम साम्यवाद, निरंकुशतापूर्ण दास युग, सामंती युग और आधुनिक पूंजीवादी युग। इन सभी युगों में इतिहास की गति का एक नियम रहा है-उत्पादन के साधनों तथा संबंधों में संघर्ष। इनके बीच संघर्षों का प्रादुर्भाव होता है। यह वर्ग-संघर्ष सभी युगों में रहा है और इसी से इतिहास को गति मिलती रही है। मानव इतिहास में इस संघर्ष का विभिन्न रूप रहा है, जिसका ध्येय उत्पादन की उन शक्तियों को उन्मुक्त करना है, जो विशेष प्रकार की सभ्यता में विशेष प्रकार के जायदादी हकों के कारण दबी पड़ी रहती हैं-जैसे, सामंती युग में भूपतियों का आधिपत्य होने के कारण उत्पादन एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सका, जिसके विरोध में एक वर्ग उठ खड़ा हुआ। उसने सामंतशाही का खात्मा कर दिया। इसी तरह पूंजीवादी युग में जायदादी मिल्कियत संबंधी विशिष्ट नियमों के कारण उद्योग एवं कृषि के उत्पादन में विज्ञान का पूर्ण रूप से व्यवहार नहीं हो पाता, जिसके कारण उत्पादन की शक्तियां तब तक दबी पड़ी रहती हैं जब तक कि श्रमिक वर्ग इतना संगठित और शक्तिशाली नहीं हो जाता कि जायदाद संबंधी प्रचलित नियमों को तोड़ कर उत्पादन की शक्तियों को उन्मुक्त कर सके। ऐसा होने में सचेत मानवीय चेष्टा का बहुत कम हाथ रहता है। यह तो इतिहास एवं समाज का अटल नियम है, जो स्वतः कार्य करता रहता है। मनुष्य तो ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और नियमों का कठपुतला मात्र है। अतएव वह अनजाने इस संघर्ष में लीन हो जाता है। इसे ही इतिहास का भौतिकवादी विश्लेषण कहा जाता है, जिसके नियमानुसार जिस देश में पूंजीवाद अत्यधिक विकसित हो चुका है, वहां वर्ग-संघर्ष बहुत तीव्र होगा और इन विकसित पूंजीवादी देशों के श्रमिक संगठित होकर पूंजीवाद को नष्ट कर देंगे तथा समाजवादी अथवा साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करेंगे।

लेकिन, लोहिया ने बतलाया है कि भवितव्यता के सिद्धांत पर आधारित मार्क्स के विचार दोषपूर्ण हैं। अव्वल तो मानव इतिहास को मार्क्स द्वारा निर्धारित चार युगों में नहीं विभाजित किया जा सकता। संभव है कि यूरोपीय इतिहास के संबंध में यह बात सही हो, पर विश्व इतिहास का इन श्रेणियों में विभाजन बहुत कठिन है। दूसरे मार्क्स का यह कथन गलत हो चुका है कि पूंजी के केंद्रीकरण और बढ़ते हुए दैन्य के कारण श्रमिकों का समाजीकरण हो जाने से पूंजीवाद के विरुद्ध स्वचालित संघर्ष आरंभ हो जाता है, जिससे

पूंजीवाद का विनाश निश्चित है। यूरोप के जिन देशों में औद्योगीकरण के अबाध विकास के कारण पूंजीवाद का केंद्रीकरण एवं श्रमिकों का समाजीकरण हुआ [जैसे इंग्लैंड और जर्मनी] वहां ऐसी कोई क्रांति नहीं हुई, जो मार्क्स के सिद्धांत को पुष्ट करता। क्रांति हुई तो रूस में और चीन में जहां औद्योगीकरण और तज्जनित पूंजी का केंद्रीकरण और श्रमिकों का समाजीकरण नहीं हो सका। इसके उत्तर में नव-मार्क्सवादी यह कह सकते हैं कि श्रमिकों का समाजीकरण यूरोपीय देशों में तो हुआ, लेकिन एशिया और अफ्रीका के देशों में उनकी गरीबी बढ़ी। अतएव यह नियम यूरोपीय देशों में लागू न हो सका। इसका अर्थ यह हुआ कि यह नियम उन अविकसित देशों में ही लागू हो सकेगा, जहां उत्पादन का विकास सामंती युग से आगे नहीं बढ़ सका है। अर्थात् औद्योगिक दृष्टि से यूरोप के विकसित देशों में नहीं, वरन् एशिया और अफ्रीका के अविकसित देशों में साम्यवादी क्रांति होगी। इससे तो मार्क्स का नियम गलत प्रमाणित हो जाता है। साथ ही यह कहना भी कि जायदादी संबंधों में परिवर्तन होने के साथ ही उत्पादन की शक्तियां स्वयं उन्मुक्त हो जाती हैं। अब यह देखना होगा कि ऐतिहासिक परिवर्तनों के संबंध में मार्क्स ने ऐसा नियम बनाया क्यों?

लोहिया का इस प्रश्न का उत्तर मौलिक है और विश्वसनीय भी। मार्क्स का भौतिकवादी विश्लेषण उन्हीं देशों में क्रांति की संभावना बतलाता है, जहां पूंजीवाद अति विकसित है और जहां सिर्फ मिल्कियत संबंधी नियमों को परिवर्तित कर और पूंजीवादी व्यवस्था की फैक्ट्री, मशीन और वैज्ञानिक कृषि को अपना कर, उत्पादन को इस तरह विकसित किया जा सकेगा कि संसार में प्रचुरता का युग आ जायेगा। पूंजीवाद की दृष्टि से यूरोप के देश ही विकसित हैं। अतः जैसा कि मार्क्स ने सोचा था, अगर यूरोपीय देशों में साम्यवादी क्रांति होती तो यूरोप ही इस नवीन युग का भी स्रष्टा होता और इतिहास के उच्चतम शिखर पर उसकी स्थिति आश्वस्त हो जाती। लोहिया के अनुसार ऐतिहासिक परिवर्तनों के संबंध में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित भौतिक विश्लेषण का यह नियम एक यूरोपीय विचारक द्वारा इतिहास में यूरोप की गौरवपूर्ण स्थिति को बनाये रखने का मात्र एक प्रयास था। मार्क्स ने ही नहीं हीगल ने भी स्पष्ट कहा है कि इतिहास के विकासोन्मुख परिवर्तन में स्वतंत्रता का जो अमूर्त सिद्धांत काम करता है, उसका ठोस और अंतिम रूप प्रशा का राज्य है। हीगल और मार्क्स के सिद्धांतों में अंतर है, पर बुनियादी नतीजा एक ही है—यूरोप को आने वाली नयी सभ्यता का सिरमौर बनाना। लेकिन लोहिया के अनुसार यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि इतिहास में कभी ऐसा नहीं हुआ कि पुरानी सभ्यतावालों ने किसी

नयी सभ्यता को जन्म दिया हो। सोचने, समझने और उत्पादन के जिन नियमों के साथ वे चिपटे होते हैं उनका पूर्ण त्याग उनके लिए संभव नहीं है, इस ऐतिहासिक प्रमाण के अतिरिक्त और भी बातें हैं, जो यूरोप को भविष्य निर्माता के रूप में मानने में बाधा पहुंचाती हैं। अगर पश्चिमी यूरोप के देश नये युग के स्रष्टा हो जायें और इतिहास की गति को आदिम साम्यवाद से लेकर आधुनिक पूंजीवाद तक मान लिया जाये [जैसा कि यूरोप में हुआ], तो अन्य राष्ट्रों के उदय और विकास का कोई मूल्य नहीं रह जाता और इतिहास का अर्थ सिर्फ यूरोप का इतिहास रह जाता है। कभी मिस्र और भारत भी तो इतिहास के उच्चतम शिखर पर खड़े थे। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार उन्हें अब तक वहां कायम रहना चाहिए था। ऐसी स्थिति में विश्व के पैमाने पर परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। कुछ देशों के मुख पर सदा हास खिला रहता और कुछ पर सदा रुदन।

इस विश्लेषण से लोहिया ने यह प्रमाणित किया है कि इतिहास–चक्र न तो विकास के सिद्धांत से और न मात्र भौतिकवादी सिद्धांत से ही चालित होता है। इतिहास में परिवर्तन अवश्य होते हैं, शायद चक्रवत, और उनके कारण न केवल देशों के आंतरिक द्वंद्वों में पाये जाते हैं, वरन् राष्ट्रों के बीच होनेवाले द्वंद्वों में भी। प्रत्येक सभ्यता के अंतर्गत विशिष्ट युगों में वर्ग-संघर्ष का होना लोहिया को मान्य है। लेकिन सिर्फ आंतरिक वर्ग-संघर्ष ही, जैसा कि मार्क्स का कथन है, परिवर्तन का कारण नहीं हो सकता। राष्ट्रों के बीच होनेवाले संघर्ष भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। अतएव आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के संघर्ष ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए अनिवार्य हैं।

लोहिया के तर्कों से क्या यह प्रमाणित होता है कि ऐतिहासिक परिवर्तनों को लाने में आर्थिक तत्व अवहेलनीय है? उत्तर लोहिया ने 'नहीं' में दिया है। उनके अनुसार अर्थ और चिंतन, भौतिकता एवं अध्यात्मिकता दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। ऐतिहासिक मनुष्यों के लिए भौतिकता का अर्थ सामाजिक संगठन एवं उसके लिए आर्थिक ध्येय है, तथा अध्यात्मिकता का अर्थ समाज की मानसिक प्रवृत्ति एवं सामान्य ध्येय है। अब तक इन दोनों का अध्ययन एक दूसरे से पृथक होता रहा है। मार्क्स एवं उसके समान अन्य विचारक यह समझते हैं कि आर्थिक ध्येय ही सामाजिक प्रवृत्तियों एवं सामान्य ध्येय को निर्धारित करते हैं, दूसरी ओर गांधीवादी सामान्य ध्येय को आर्थिक ध्येय का निर्धारक मानते हैं। दोनों विचार अपूर्ण हैं। लोहिया के कथनानुसार भौतिक और अध्यात्मिक ध्येयों के बीच स्वचालित संबंध होना चाहिए। इसके समर्थन में उन्होंने यह तर्क दिया है :

"इतिहास से यह मालूम पड़ता है कि अब तक के सारे समाज किसी एक ही दिशा में अपने संगठन एव तकनीकी क्षमता को विकसित कर सके हैं, जिसकी

अध्यात्मिक प्रक्रिया दो तरह की हुई है। कुछ लोग तो ऐसी तकनीकी प्रगति को अस्वीकार कर देते हैं और दूसरे इसे ही सब कुछ मान कर इसके साथ सहयोग देने लगते हैं। प्रथम वर्ग की प्रतिक्रिया तो बहुत शक्तिशाली नहीं होगी, लेकिन दूसरे वर्ग की सहायता पा कर यह समाज अपने प्रथमतः निर्धारित मार्ग पर तीव्र गति से अग्रसर होने लगता है। फलस्वरूप ऐसी सभ्यता अपने ही भार से दब जाती है और जब दूसरी दिशा में विकासशील अन्य सभ्यताओं से इसका टकराव होता है, तो यह नष्ट हो जाती है। किसी एक ही दिशा में प्रगति करने का एक दूसरा प्रभाव भी पड़ता है। जब सभ्यता प्रगति के चरम-बिंदु पर पहुंच जाती है तब आंतरिक वर्ग-संघर्ष असहनीय हो जाता है और न्यायोचित सामाजिक संगठन की खोज शुरू हो जाती हैं। आर्थिक वर्ग जाति में परिवर्तित हो जाते हैं। अगर यह जाति-व्यवस्था सचमुच न्याय पर आधारित हुई, तो हो सकता है कि सभ्यता का ह्रास कुछ दिनों के लिए रुक जाये, पर जाति-व्यवस्था एक प्रकार की श्लथता पैदा करती है और इस श्लथता और बाहरी दबाव के कारण उस सभ्यता या समाज का पतन अवश्यंभावी हो जाता है। अब तक के इतिहास से यही प्रमाणित होता है।"

इस तर्क की पुष्टि के लिए लोहिया ने वर्ग और जाति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि जाति-व्यवस्था सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं है, अन्य जगहों में भी पायी जाती है, सिर्फ उसका रूप भिन्न है। वर्ग परिवर्तनशील जाति है और जाति अपरिवर्तनशील वर्ग। वर्ग जाति में और जाति वर्ग में परिवर्तित होतो रहती है। यही प्राचीन रोम में हुआ। रोमन सभ्यता ने एक संकुचित निर्दिष्ट दिशा में असीम क्षमता प्राप्त कर ली थी और वहा वर्ग का जाति में तथा जाति का वर्ग में परिवर्तन होता रहता था। लेकिन एक समय ऐसा आया कि परिवर्तन की यह गति रुक गयी। रोमन साम्राज्य में जाति-व्यवस्था कायम हो गयी और फिर प्राचीन रोमन साम्राज्य और सभ्यता का लोप हो गया।

यही बात भारत की जाति-व्यवस्था के भी संबंध में हुई। भारतोय सभ्यता भी एक ही दिशा में विकास करती रही, जिसका आधार अध्यात्मिक था। जब अध्यात्मिक विकास एक बिंदु पर पहुंच कर रुक गया तब जाति व्यवस्था स्थापित होने लगी। लेकिन कुछ समय तक इस सभ्यता का जीवन स्रोत शुष्क न हो सका और बौद्ध-युग में जाति-व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन चल पड़ा। जाति-व्यवस्था शिथिल पड़ गयी और भारत का राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास हुआ। समय की गति के साथ फिर वर्ण-व्यवस्था स्थापित होने लगी। लेकिन बुद्ध के प्रायः चार सौ वर्षों के बाद वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध फिर आंदोलन चला और भारत की आंतरिक एवं बाह्य उन्नति हुई। धीरे-धीरे १३वीं १४वीं शताब्दी तक एक ही दिशा-अध्यात्मिकता-में प्रगति के अंतिम शिखर पहुंच कर यहां वर्ग-संघर्ष रोक

दिया गया और कठोर जाति-व्यवस्था स्थापित की गयी। जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज में श्लथता आ गयी। यह विदेशी आक्रमण को रोकने में असमर्थ रहा और इसकी सभ्यता का पतन हो गया। सौभाग्यवश आधुनिक युग में महात्मा गांधी के प्रयासों से जाति-व्यवस्था फिर टूटने लगी है।

वर्ग और वर्ण की यह आंखमिचौनी प्राचीन सभ्यताओं तक ही सीमित नहीं है। आधुनिक सभ्यता में भी इसके लक्षण प्रकट होने लगे हैं। पहले हम अमरीकी सभ्यता को लें। संयुक्त राज्य अमरीका के संबंध में अगर यह कहा जाये कि वहां भी जाति-व्यवस्था पनप रही है, तो आम लोगों को जल्दी विश्वास नहीं होगा। क्योंकि यूरोपीय समाज की अपेक्षा अमरीकी समाज बहुत स्वतंत्र है वहां तकनीकी प्रगति भी द्रुत गति से हो रही है, उसकी संभावनाएं अभी लुप्त नहीं हुई हैं। ऊपर से देखने पर नीग्रो जाति के एवं बोस्टन के उन परिवारों को छोड़कर, जो इंग्लैंड से सर्वप्रथम आये थे और इस आधार पर अपने को उच्च वर्ण मानते हैं, अन्य जातियां नजर नहीं आतीं। पर सत्य यह है कि विभिन्न उद्योगों से संबंधित वहां के मजदूर संघ सिर्फ अपनी ही जाति के लोगों के हकों की रक्षा में संलग्न हैं। और उनकी सभाओं में दिये जानेवाले भाषणों से उनकी यह जातिगत प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। वह दिन दूर नहीं, जब अमरीकी सभ्यता तकनीकी दक्षता की चरम-सीमा पर पहुंचकर जाति-व्यवस्था में बंट जायेगी और तब उस समाज में श्लथता भी आ जायेगी।

अब हम यूरोप का सिंहावलोकन करें। पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता तर्क और तकनीकी क्षमता पर आधारित है। इसने ७०० वर्ष पुरानी जाति-व्यवस्था, जिसका परिचय मध्ययुगीन आर्थिक और व्यापारिक श्रेणियों (गिल्डों) एवं सामंती-युग के बंधुआ मजदूर और भूमिपतियो से मिलता है, को तोड़कर एक ऐसे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संगठन का जन्म दिया, जिसका आधार मानवी गौरव, तर्क, उत्पादन में विज्ञान का उपयोग और राजनीति में मानव समता पर आधारित गणतांत्रिक व्यवस्था रही है। लेकिन इस सभ्यता का तकनीकी विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका है, जिसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष वृथा और असहनीय होने लगा है। लोग एक ऐसा सामाजिक संगठन ढूंढ़ रहे हैं, जिसका आधार वर्ग संघर्ष न होकर स्थायी वर्ण-व्यवस्था हो। इसी स्थायी वर्ण-व्यवस्था के अनुसंधान में हिटलर ने एक ऐसा संगठन स्थापित किया, जिसमें सभी सामाजिक वर्गों की आय एवं स्थिति निश्चित कर दी गयी थी। दूसरी ओर रूस की मौजूदा व्यवस्था भी अंततोगत्वा इसी सामाजिक स्थायित्व की खोज है। इसमें शक नहीं कि रूस ने भी उत्पादन के क्षेत्र में पूंजीवादी तकनीक को अपना लिया है और कम जनसंख्या एवं विशाल साधनों के कारण अभी उसके विकास की संभावनाएं काफी हैं। लेकिन वहां भी

वर्ग-संघर्ष पर रोक लगा दी गयी है। अभी वहां पूर्ण साम्यवाद की स्थापना नहीं हो सकी है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को न केवल कार्यकुशलता बल्की आवश्यकता के आधार पर पारिश्रमिक मिले। फिर भी वहां वर्ग-संघर्ष नहीं है, न हो सकता है। सच तो यह है कि वहां किसी तरह का परिवर्तन तब तक संभव ही नहीं, जब तक शासक-वर्ग न चाहे। शासक-वर्ग ने देश के तीव्र औद्योगीकरण के हेतु वर्ग-संघर्ष को रोक दिया है, जिसके फलस्वरूप समाज में जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे स्थायी बनती जा रही है। इस नयी जाति-व्यवस्था के उच्चतम सदस्य कम्युनिस्ट पार्टी के नेता, फैक्टरियों के मैनेजर एवं उच्चपदस्थ तकनीकी चातुर्यवाले व्यक्ति हैं। शेष निम्न वर्ग के लोग हैं। यद्यपि साधारण जनता को वहां जीवन की न्यूनतम सुविधाएं प्राप्त हैं, तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि वहां पार्टी तथा शासन में स्थान के अनुसार एक नयी जाति-व्यवस्था का जन्म हो चुका है। वहां भारत की तरह अछूत भी हैं। अगर भारतीय अछूतों की संख्या कुल आबादी की २० प्रतिशत है, तो रूसी अछूतों की संख्या वहां की जनसंख्या का दस प्रतिशत है, जो सेवा शिविरों एवं यातना शिविरों में रहते हैं। भारतीय अछूतों की तरह उनसे भी कम से कम पारिश्रमिक पर अधिक से अधिक काम लिया जाता है। अतएव हिटलरी व्यवस्था और रूस की साम्यवादी व्यवस्था—दोनों ही यूरोप द्वारा तकनीकी सभ्यता के विकास की आखिरी मंजिल पर पहुंचकर वर्ग संघर्ष को रोकने एवं जाति-व्यवस्था पर आधारित एक स्थायी सामाजिक संगठन को स्थापित करने का प्रयास है।

लोहिया द्वारा वर्ग तथा जाति का यह विश्लेषण और आधुनिक सभ्यता मे वर्ग वर्ण की मीमांसा निश्चय ही उनके नये दृष्टिकोण का परिचायक है। इस दृष्टिकोण से पाश्चात्य यूरोप के विद्वान न तो अपनी सभ्यता और न रूसी साम्यवादी व्यवस्था का विश्लेषण करते हैं क्योंकि ये दोनो सभ्यताएं सिर्फ जायदादी हकों के आधार को छोड़ कर अंततोगत्वा एक समान ही हैं दोनों की संभावनाएं और खतरे भी एक ही तरह के हैं। अतएव वे इस कष्टदायक सत्य से मुख मोड़ना चाहते हैं कि उनकी सभ्यताएं इतिहास-चक्र में बुरी तरह फंस चुकी हैं, जिसके कारण उनका ह्रास भी निश्चित है।

वर्ग और वर्ण का यह सिद्धांत निरूपित कर लोहिया यह नहीं चाहते थे कि आर्थिक वर्गों का विनाश न हो। वह तो जल्द से जल्द इन वर्गों को नष्ट होते देखना चाहते थे। उनका उद्देश्य सिर्फ भारत के समाजवादियों को यह चेतावनी देना था कि आर्थिक वर्गों को नष्ट करनेकी प्रक्रिया में किसी नयी जाति-व्यवस्था का जन्म न हो जाये। इस बात का खतरा इसलिए उपस्थित हो गया है कि भारत में भी पश्चिमी समाजवादी नारों को बगैर समझे-बूझे उठाया जा रहा है, जबकि आवश्यकता इस बात की है कि उन नारों को हम उचित विवेचना के बाद ही अपनायें, पश्चिमी

समाजवादी मार्गों पर आंखें मूंद कर चल न पड़े। किसी भी सभ्यता के आंतरिक इतिहास में वर्ग और वर्ण के बीच वाले परिवर्तनों के साथ बाह्य परिवर्तन भी संबद्ध है। आज तक कोई जाति या सभ्यता इतिहासके शिखर पर कायम नहीं रह सकी है। मिस्र, भारत, ग्रीस, रोम, चीन यहां तक कि मेक्सिको भी कभी उन्नति की चरम सिमा पर पहुंचे थे। लेकिन पिछली तीन शताब्दियों से वह स्थान यूरोप ने प्राप्त कर लिया है। अतएव उत्थान और पतन प्रत्येक जाति में एवं सभ्यताके इतिहास में अंकीत है। इससे निस्तार नहीं। अब तक के मानव इतिहास में यह दो मुख्य प्रवृत्तियां रही हैं—आंतरिक दृष्टि से वर्ग राजनितिक बल और आर्थिक संपदा का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रत्यावर्तन। इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच गहारा संबंध रहा है।

विगत सभ्यताओं का आंतरिक इतिहास यह बतलाता है कि परिवर्तन-चक्र, वर्ग-संघर्ष, तज्जनित समानता, सामाजिक समानता, सामाजिक विस्फोट, परिणामस्वरूप न्याय पर आधारित जाति-व्यवस्था, तज्जनित श्लथता, फिर वर्ग-संघर्ष—इसी परिधि में घूमता रहता है। मनुष्य का भाग्य समता और न्याय के बीच पेंग लेता रहता है। उसके भाग्य का यह नाटक विश्व-इतिहास के उसी मंच पर खेला जाता है, जिस पर सभ्यताओं के उदय और ह्रास का इतिहास अंकित होता है। दोनों के बीच अटूट संबंध भी है। उदय होती हुई सभ्यता आंतरिक वर्गों के बीच समता का भाव लाती है, जो उस सभ्यता को पुष्ट भी करता है। इसी तरह वर्ग-संघर्ष की भयानकता विस्फोट उत्पन्न कर सभ्यता को पतन की ओर ले जाती है और पतनोन्मुख सभ्यता वर्ग-संघर्ष को रोक कर जाति-व्यवस्था स्थापित करती है। यही इतिहास-चक्र है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य इसी तरह भाग्य के हाथों का खिलौना बना रहेगा? वह इतिहास-चक्र की परिधि में असहाय, निरुपाय घूमता रहेगा या कभी काल-चक्र से, नियति के इस कठोर विधान से, अपने को मुक्त कर सकेगा? मुक्ति का यह प्रश्न इसलिए आवश्यक है कि अब तक के सारे परिवर्तनों के बावजूद भी मानवता की आधारभूत समस्याएं नहीं सुलझ सकी हैं। सदा ही मनुष्यों का एक बड़ा भाग शारीरिक और मानसिक दैन्य एवं उत्पीड़न का शिकार बना रहा है। आज भी संसार की जनसंख्या का प्रायः दो-तिहाई भाग हर तरह मुहताज है। ऐसी परिस्थिति में क्या विदग्ध मानवता के लिए आशा की कोई किरण दिखलाई पड़ती है? इतिहास-चक्र के कठोर नियमों के अनुसार तो ऐसी कोई आशा नजर नहीं आती। सदा की तरह आंतरिक और बाह्य कलहों के कारण सभ्यताओं का उदय और पतन होता रहेगा। ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि भविष्य में सारा मानव-समुदाय एक साथ मिल कर राष्ट्रों के आपसी झगड़ों और वर्ग-संघर्ष को मिटा सकेगा। इतिहास के साधारण नियमों से कोई मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता। अतएव इन नियमों से परे जाना आवश्यक है। लोहिया के अनुसार अब तक की सारी सभ्यताएं किसी

एक निर्दिष्ट मार्ग पर बढ़ती रही हैं, केवल किसी एक ही दिशा में क्षमता प्राप्त करने को प्रयत्नशील रही हैं। इसीलिए, लोहिया ने कहा है कि अगर इतिहास की मरुस्थली में हरे-भरे सुगंधित दूर्वा-स्थलों को खोजना है, तो आंशिक-क्षमता के स्थान पर बहुमुखी क्षमता के सिद्धांत को अपनाना होगा।

अपने तर्क को आगे बढाते हुए लोहिया ने कहा है कि उत्थान-पतन के क्रम में अनेक सभ्यताओं ने मानव-जाति के कुछ भाग को एकता के सूत्र में बांधा है, यद्यपि यह एकता सुनियोजित नहीं थी और अधिकतर सैनिक विजय पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त सारी मानव जाति अभी एक परिधि में आयी भी नहीं, क्योंकि ऐसा प्रयास करने वाली प्रत्येक सभ्यता इस प्रवृत्ति को पूर्णता तक पहुंचाने के पहले ही अपनी शक्ति खो बैठी। लेकिन चाहे यह एकता अपूर्ण रही, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जातिमिश्रण, भाषा, विचार, धर्म, उत्पादन के तरीके एवं रहन-सहन के स्तरों के संबंध में विभिन्न जातियों ने न केवल एक दूसरे को प्रभावित ही किया है, वरन् एक दूसरे के बीच काफी समानता भी आयी है। प्राचीन भारतीयों ने इस मामले में कमाल ही कर दिया था। सुदूर पूर्व की सभ्यता पर आज भी भारतीय सभ्यता की अमिट छाप है, यहां तक कि कुछ हेर-फेर के बाद दोनों सभ्यताओं में बहुत कम भेद रह जाता है। इसी तरह अरबी धर्म, भाषा और संस्कृति ने अरब प्रायद्वीप से लेकर उत्तरी अफ्रीका में एक बड़े भूभाग को धर्म, भाषा और रहन-सहन के स्तर पर एकता के सूत्र में बांधा है। ग्रीस और रोम की सभ्यता, उनकी भाषा और विचार तो आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के रक्त-वीर्य हैं। आधुनिक काल में अंग्रेजी भाषा ने भी एक काफी विस्तृत भूभाग को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधा है। फिर उद्योग-धंधों के आधुनिक तकनीक, आवागमन के आधुनिक साधन आज सार्वजनीन बन गये हैं। भौतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में आज विभिन्न देशों के बीच काफी समता पायी जाती है। इन बातों से यह आशा बंधती है कि अगर संपूर्ण विश्व में विभिन्न जातियों के बीच साम्य स्थापित करने की सचेत चेष्टा की जाये, ऐसा साम्य जिसमें कोई जाति किसी के अधीन नहीं हो, तो मानव जाति की बहुरंगी एकता स्थापित हो सकती है।

राष्ट्रों के बीच उपरोक्त साम्य के अतिरिक्त उनके आंतरिक जीवन में भी समता स्थापित होती जा रही है। स्वीडन में प्रधानमंत्री और सड़क साफ करने वालों के वेतन में सिर्फ पांच गुने का अंतर है। अमरीका में वाहन-चालकों एवं राज्य के सचिव के वेतन प्रायः बराबर हैं। कल्याणकारी राज्य के विकास से इस आंतरिक समता को भी बल मिला है। बेकारी बीमा, बच्चों और बूढ़ों को पेंशन, राज्य-समर्थित मूल्य पर खाद्य, बेमोल दवा, म्युनिसिपैलिटी द्वारा बनाये गये आवास, विश्वविद्यालयों में शिक्षा के लिए बहुसंख्यक छात्रवृत्तियां इनके कारण पश्चिमी देशों

के नागरिकों के बीच काफी समता स्थापित हो चुकी है। अभी ऐसी समता सिर्फ गोरे देशों में पायी जाती है। रंगीन देशों में इसका अभाव है, लेकिन इस दिशा में प्रयत्न तो किया ही जा सकता है कि राष्ट्रों और आंतरिक वर्गों के बीच साम्य स्थापित हो।

ऐसा हो सकने की संभावनाएं हैं, साधन भी हैं। सिर्फ आवश्यकता है सचेत और निर्णयात्मक चेष्टा की। तभी इतिहास-चक्र की गति रुक सकती है और एक ऐसी विश्व-सभ्यता की स्थापना हो सकती है, जिसमें सभी के चेहरे पर मुस्कान हो और आंसू किसी के नहीं।

●

लोहिया और मार्क्सवादी

• किशन पटनायक

समाजवादी युवजन मुझसे पूछ बैठते हैं कि क्या वे मार्क्सवादी भी हो सकते हैं। इनमें से कुछ तो हमारे संग होने के पहले ही किसी न किसी तरह के मार्क्सवादी होते हैं। हम मार्क्सवादियों और गैरमार्क्सवादियों दोनों को अपने संग लेते हैं। मार्क्सवादियों की वर्ग-संघर्ष और समाजवाद के लक्ष्य के बारे में मानसिक पृष्ठभूमि रहती है। यह पृष्ठभूमि फायदेमंद रहती है, बशर्ते कि ऐसा मार्क्सवादी युवक बूढ़ा न हो चला हो और उसका मार्क्सवाद अंधविश्वास न बन गया हो। हमारे साथ आनेवाले मार्क्सवादी कभी-कभी हमारे आदर्शों और और कार्यक्रमों से मेल नहीं बैठा पाते। कुछ तो हम लोगों से रिश्ता भी तोड़ लेते हैं। ऐसे ही एक मार्क्सवादी ने बंगला में एक छोटी–सी पुस्तिका लिखी है 'समाजवाद का क्या मतलब होना चाहिए'। इस पुस्तिका में मार्क्सवाद के मोटे सिद्धांतों के सिवाय कुछ नहीं है। मैं इन सिद्धांतों को यहां रख रहा हूं —

(१) समाजवाद का लक्ष्य एक ऐसा समाज स्थापित करना है, जो अत्यंत समृद्ध हो और जिसमें लोग अपनी योग्यता के मुताबिक उत्पादन करें और अपनी आवश्यकतानुसार लें।

(२) मौजूदा समाज एक वर्ग समाज है। जिन लोगों की उत्पादन के साधनों, जैसे कल-कारखाने, पर मिल्कियत है वे पूंजीपति हैं और जो इन कल-कारखानों में उत्पादन के लिए काम करते हैं, वे मजदूर हैं। इसी तरह जमींदार हैं और भूमिहीन मजदूर हैं। जिनके पास उत्पादन के जितने अधिक साधन हैं, वे उतना ही समाज में ज्यादा बढ़े हुए है, प्रतिष्ठित हैं। वे मजदूरों से बेहद काम लेते हैं और उन्हें बहुत कम वेतन देते हैं। संपत्ति की शक्ति के बूते पर अपने स्वार्थों की रक्षा करने के वास्ते सरकार पर नियंत्रण रखते हैं। यही शोषण है। शोषण वर्ग समाज का आधार है।

(३) जनता को इस शोषण से मुक्ति दिलाने का रास्ता समाजवाद है। समाजवाद किसी प्रकार का शोषण बर्दाश्त नहीं करेगा। उत्पादन के साधनों पर किसी वर्ग या व्यक्ति का एकाधिकार नहीं रहने दिया जायेगा।

(४) केवल शोषित वर्ग ही वर्ग-संघर्ष के माध्यम से मौजूदा व्यवस्था को खतम और नष्ट कर सकता है। पूंजीपति वर्ग के खिलाफ लड़ने और सत्ता प्राप्त करने की जिम्मेदारी या ऐतिहासिक कर्त्तव्य किसी देश के मजदूरों, किसानों और गरीब मध्यवर्ग का ही होता है।

कोई भी पक्का और सच्चा समाजवादी ऊपर कही गयी बातों से असहमत नहीं हो सकता। मार्क्सवाद की इन बातों पर विवाद की गुंजाइश नहीं, पर यहीं तक। ये बातें मार्क्सवाद की विवाद से परे सारभूत बातें हैं। हम कार्ल मार्क्स के प्रति इनके लिए कृतज्ञ हैं कि उन्होंने इन बातों को वैज्ञानिक ढंग से और स्पष्ट व बेलाग रूप से रखा। आज उनके अथक अध्ययन और सृजनात्मक दिमाग की वजह से ये सिद्धांत दुनिया-भर के न्यायप्रेमी व शोषणविरोधी लोगों को सहज मालूम पड़ते हैं, पर मार्क्स को १९ वीं सदी में इन दो-टूक बातों को रखने और उन पर जोर देने के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

सवाल यह है कि क्या हिंदुस्तान में या अन्य किसी जगह इतने ही सिद्धांतों से समाजवाद लाया जा सकता है? क्या समाजवाद लाने के लिए ये पर्याप्त हैं? रूस और चीन में भी यह संभव नहीं हो सका। रूस में मार्क्सवाद पूरा नहीं पड़ा, उसे लेनिनवाद और स्टालिनवाद से पूरा करने की जरूरत पड़ी। चीन में उसे माओवाद से। बुलगारिया में, जहां अभी तक एक मिली-जुली सरकार शासन कर रही है, जार्ज दिमित्रोव के सिद्धांतों से इसे पूरा करने की जरूरत पड़ी। मार्क्सवाद के ये परिशिष्ट कभी महज विस्तार के रूप में थे या उसकी विशेष व्याख्या थे, पर कभी–कभी वे मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धांतों के बुनियादी रूप में प्रतिकूल भी थे। केवल हिंदुस्तान ही ऐसा देश है जहां के मार्क्सवादी समझते हैं कि मार्क्सवाद एकदम पर्याप्त है। उनमें से कुछ सोचते हैं मार्क्सवाद-लेनिनवाद कोसीगिनवाद काफी है और कुछ का मार्क्सवाद-स्टालिनवाद माओवाद के बारे में ऐसा ही खयाल है। ऐसे भी कुछ हैं जिन्हें परिशिष्टों की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। पहली और दूसरी कोटि वाले ऐसे लोग अपने कार्यकर्ताओं में, अपने देश के समाजवादी आंदोलन में रूस और चीन की विदेश नीति के सेवक बनकर थोड़ी गतिशीलता लाते हैं, पर तीसरी कोटि तो एकदम बांझ है, वह आंदोलन भी पैदा नहीं कर सकती।

कारण ढूंढ़ने के लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तकें १९ वीं शताब्दी के मध्य में तत्कालीन पश्चिम यूरोप की स्थिति के अपने अनुभव के मुताबिक लिखी थीं। उन्हें पश्चिम यूरोपीय संदर्भ में ब्रिटेन और जर्मनी के वर्ग समाजों की प्रत्यक्ष जानकारी थी। उन्हें इस बात का कोई खयाल ही नहीं था कि उनके विचार इस संदर्भ से परे भी क्रांति लायेंगे। समाजवादी आंदोलन को शुरू करने के पहले समाज को उसके ऐतिहासिक संदर्भ में आंकना अनिवार्य है। अन्य शब्दों में उसके ऐतिहासिक संदर्भ का एहसास एकदम जरूरी हैं।

समाजवादी एक ही समय पर सभी जगहों व स्थानों पर विजयी नहीं होते। एक राष्ट्र के समाजवादियों और दूसरे राष्ट्र के समाजवादियों में फर्क हुआ करता है— उनके गठन में, कारगर क्षमता में, कार्यक्रम में और तात्कालिक लक्ष्यों में। ऐसा क्यों? मुख्य रूप से इसलिए कि वर्ग व्यवस्था हर समाज में एक-सी नहीं होती और मजदूरों के बीच संपन्नता और गरीबी का स्तर भी राष्ट्रों और राष्ट्रों के बीच अलग-अलग होता है। यही नहीं, उनकी सामाजिक-राजनीतिक परंपराएं भी भिन्न हुआ करती हैं। अमरीका के शोषणकारी समाज में प्राथमिक अध्यापक भारत में जिस तरह आंदोलन, अनशन और हड़ताल करते है, वैसे नहीं करेंगे। अगर समृद्धि समाजवाद की निशानी है, तो समाजवाद भारत के बजाय अमरीका में ज्यादा विकसित है, पर भारत में समाजवादी ताकतें अमरीका की अपेक्षा ज्यादा मजबूत हैं। भारत में समृद्धि लाना एक बुनियादी काम होगा, जो कि अमरीका में शायद न हो।

एक समाजवादी का पहला ठोस काम यह है कि वह अपने समाज की वर्ग व्यवस्था के बुनियादी चरित्र व विशेषताओं को समझे और परखे। भारत में केवल राममनोहर लोहिया ने वर्ग व्यवस्था का गहरा विश्लेषण किया। बात तो यह है कि उन्होंने इस प्रश्न को इतने मौलिक ढंग से समझा और रखा कि अधिकांश मार्क्सवादी सोचते हैं उनकी (लोहिया की) स्थापनाएं मार्क्सवाद के प्रतिकूल हैं। यहां इस बात को स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि मेरा आशय यह नहीं है कि लोहिया की बातें मार्क्स का फैलाव हैं या हम रूस, चीन, बुलगारिया जैसी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-लोहियावाद की कोई भारतीय शृंखला बना सकते हैं। ऐसा करना घोर बेवकूफी होगी, क्योंकि लोहिया ने बार-बार इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को ही चुनौती दी है और यह ठहराया है कि पूंजीवाद की तरह मार्क्सवाद भी एशिया के खिलाफ यूरोप का एक हथियार है। हम अभी इस विवाद में नहीं पड़ रहे। मार्क्सवादी और लोहिया के अनुयायी दोनों मौजूदा समाजों के वर्ग चरित्रों की बात मानते हैं और दोनों ही वर्ग-संघर्ष की आवश्यकता

पर जोर देते हैं। इसलिए दोनों के ही लिए यह आवश्यक है कि वे शोषण के स्रोतों को एकदम उघाड़ कर देखें और उन्हें सामने रखें।

एक वर्ग समाज में मुख्य चीज है शोषण। जो शोषण कर सकते हैं वे ज्यादा फायदा या मुनाफा पाते हैं। जो शोषण नहीं कर सकते उनका शोषण होता है। वे चालू व्यवस्था से कोई फायदा या सुविधा प्राप्त नहीं कर पाते। शोषणकर्ताओं का औजार होता है विशेषाधिकार। कुछ जन्म से ही मिले रहते हैं और कुछ प्राप्त किये जा सकते हैं। विशेषाधिकार एक ऐसा अवसर है जो समाज के बहुत छोटे से हिस्से को ही मिलता है। भारत में बुनियादी किस्म के विशेषाधिकार तीन हैं—जाति, संपत्ति और अंग्रेजी भाषा। कुछ ऐसे लोगों की राय में जिनकी संख्या नगण्य है, अंतिम किस्म का विशेषाधिकार प्राप्त किया जाता है, मिलता नहीं। अगर आपको भारत में कहीं भी—कश्मीर से केरल तक, गोआ से मणिपुर तक—कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो इन तीनों से विभूषित हो तो आप बिना कोई और जांच-पड़ताल किये बेहिचक तुरंत यह घोषित कर सकते हैं कि यह व्यक्ति भारत के शासक वर्ग का है।

ऐसा व्यक्ति बिना किसी प्रयत्न के समाज से लाभ उठाने वाला और फायदा प्राप्त करने वाला हो सकता है। उसके पास सब तरह के भौतिक साधन होंगे—अच्छा आरामदेह मकान, अच्छा खाना, कपड़े और खुश बच्चे। वह सांस्कृतिक वस्तुएं और सुख—जैसे पुस्तकें, नाटक, खेलकूद—का उपयोग भी प्राप्त कर रहा होगा। देश के कानून, योजना और प्रशासन सबका रुझान ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकताओं और मनचाही को पूरा करने की ओर है।

अब हम दूसरे चरण को लेते हैं, जिसमें व्यक्ति में तीन के बजाय ये दो गुण हों—उच्च वर्ण और अंग्रेजी भाषा, उच्चवर्ण और संपत्ति या संपत्ति तथा अंग्रेजी। पहला मेल काफी व्यापक है, और अंतिम सबसे कम। इस मेल का आदमी अपने आप शासक वर्ग में नहीं हो जाया करता। उसे उस हद तक प्रयत्न करना पड़ता है, जिस हद तक उसमें इन विशेष गुणों की कमी है। कुछ वर्षों के अनवरत प्रयत्नों से वह निश्चित रूप से तीसरा गुण भी प्राप्त कर लेगा और शासक वर्ग में आ जायेगा। अगर कोई कायस्थ है और उसे अंग्रेजी आती है, तो पांच साल के भीतर वह कुछ संपत्ति भी प्राप्त कर सकता है। इस वर्ग के लोग अपने प्रयत्नों से बढ़ कर व्यापारी, पूंजीपति, मंत्री, बड़े नौकरशाह, प्राध्यापक, वैज्ञानिक आदि बनते हैं।

तीसरे कदम पर आने पर जब एक ही गुण रहता है तब? जाति या धन या अंग्रेजी। यहां आगे बढ़ने या उठने की कोई आशा नहीं। प्रयत्न बेकार होते हैं। जन्म ब्राह्मण कुल में क्यों न हुआ हो, मगर धन या अंग्रेजी का ज्ञान नहीं है, तो

उसके लिए गांव मंदिर में पुजारी बनने के आगे दूसरा चारा क्या है? ऐसा आदमी अपने बेटे-बेटियों को कालेज की पढ़ाई नहीं दिलवा सकता। वह समाज में प्रभावी व्यक्ति भी होने की आशा नहीं कर सकता। इसी तरह अगर किसी मेहतर के पास ५००० रु० हों तो ये रुपये उसे आगे बढ़ाने में कारगर नहीं हो सकते। अगर किसी कायस्थ के पास ५००० रुपये हुए तो वह उनको चालबाजी से इस तरह लगायेगा कि १० साल के भीतर ५००० रुपये २५००० रुपये हो जायेंगे। वह ऊंचे पदों पर काम करने वाले अपने दूर के संबंधियों को घूस देकर ठेकेदार का काम हथिया लेगा। अगर इतने ही रुपये किसी चमार के पास हुए तो वह बढ़ाना तो दूर रहा अपने पास रख भी नहीं पायेगा। पटवारी, पुलिस-सिपाही, मजिस्ट्रेट और वकील उससे रुपये हड़प लेंगे। इस वर्ग के लोगों के दुखों का कोई अंत नहीं।

चौथा वर्ग है दुख-कष्ट का विशुद्ध सर्वहारा वर्ग। इसके पास तीनों गुणों में से कोई एक भी नहीं—न संपत्ति, न जाति, न अंग्रेजी। इस वर्ग का व्यक्ति उठने की आशा नहीं कर सकता, कोशिश करने की भी नहीं। वह अपने लिए या अपनी संतान के लिए आराम और सुविधा की जिंदगी का सपना भी नहीं देख सकता। जब वह पहली बार समाजवाद के बारे में कही सुनता है तो उसे आपकी बातों पर विश्वास ही नहीं होता। अगर आपको किसी कानून, योजना और राजनीति के कार्यक्रम के औचित्य पर शंका हो, यह लगे कि इनसे क्या फायदा होगा, तो आप अपने तई पूछ सकते हैं क्या यह उन लोगों की, जिनका न उच्चवर्ण है और न जिनके पास संपत्ति हैं और न ही अंग्रेजी का ज्ञान, रक्षा कर सकता है, उन्हें फायदा पहुंचा सकता है, उन्हें जगा सकता है? ये तीन विभाजक बातें जनता को अपने शासकों से अलग रखती हैं। संपत्ति तथा अंग्रेजी के बहुत ज्यादा सीमित होने के कारण सबसे बड़ा और व्यापक विभाजन जाति-व्यवस्था करती है। यद्यपि वर्गों का स्थान अंततः संपत्ति से ही निर्धारित होता है, पर जाति-व्यवस्था पहले से ही यह निर्धारित कर देती है कि किन्हें अन्य दो गुण प्राप्त हो सकेंगे।

इस सचाई को जानने और समझने पर आपको सही निर्णय करने की और वर्ग-संघर्ष की सही धारणा होगी। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष के स्वरूप पर विचार के लिए एक अलग अध्याय आवश्यक है। पर कोई भी जो ऊपर के विश्लेषण से सहमत हो, तब तक मानसिक शांति प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि सामाजिक ढांचा पूरी तरह न बदले। अगर भारतीय मार्क्सवाद अटक गया है, जम गया है, तो यह समझ उसे मुक्ति देगी, जमाव से पिघलाव शुरू होगा और सोते बहने लगेंगे। भारतीय मार्क्सवादियों की एक और कमजोरी है। वह है गैर राष्ट्रीयतावाद, जिसे साम्यवादी-विरोधी लोग राष्ट्रीयता-विरोधी कहकर गलत ढंग से पेश करते हैं। मार्क्सवादियों की यह कमजोरी अधकचरे अंतर्राष्ट्रीयतावाद की

उपज है। इस संबंध में आम मार्क्सवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा जा सकता है।

(क) पूंजीपति लोगों के बीच अपना माल बेचने और उससे व्यापार बढ़ाने के लिए राष्ट्रीयतावाद का प्रचार करते हैं। वे जनता को इस बात के लिए मनाते हैं कि वह केवल स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करे। वे युद्धों को जन्म देते हैं और मजदूरों के बेटों का बलिदान करते है; मजदूरों के बेटे उनके संरक्षण और उनका बाजार बढ़ाने के लिए सैनिक बनते है।

(ख) इसके विपरीत समाजवादी अंतर्राष्ट्रीय हैं। पर अंतर्राष्ट्रीय होने के बावजूद वे अपनी संस्कृति और इतिहास से लगाव महसूस करते हैं। वे किसी देश की लाल सेना को समाजवाद का प्रचार करने के नाम पर अपने यहां कूच करने और अपनी भूमि पर कब्जा करने नहीं देंगे। देशी पूंजीपतियों के खिलाफ लड़ना और एक वर्गहीन समाज स्थापित करना देश के मजदूर–किसानों का कर्तव्य है।

(ग) सच्चा समाजवाद बिना समृद्धि के स्थापित नहीं किया जा सकता। लिहाजा अत्यधिक उन्नत देशों के मजदूरों को पिछड़े लोगों की तकनालाजी और अन्य साधनों से मदद करने के लिए आगे आना होगा। इस प्रकार समाजवाद पूरी तरह अंतर्राष्ट्रीय है।

ऊपर की इन बातों का सार यही है कि राष्ट्रीयतावाद किसी-न-किसी रूप में एक देश के भीतर सभी तरह के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है, पर मार्क्सवादी इसको स्वीकार करने में शरमाता, हिचकता है। अगर किसी देश की लाल सेना बल प्रयोग से समाजवाद स्थापित करने के लिए दूसरे देश की सेना पर हमला करे तो इसमें क्या बुराई है? क्या राष्ट्र प्रांत की तरह है? कोई भी मार्क्सवादी पश्चिम बंगाल के साम्यवादियों द्वारा बिहार में पूंजीवाद को नष्ट करने के लिए हिंसा के प्रयोग करने की वैधता को चुनौती नहीं देगा। अगर रूस बहुत ज्यादा समृद्धि प्राप्त करे और बुलगारिया गरीबी में ही पड़ा रहे तो क्या साम्यवादी अपनी आमदनी को एक जगह इकट्ठा कर उसका रूसी और बुलगारियाई लोगों में समान वितरण करेंगे? अगर चीनी भी कुछ समय बाद इफरात वाले हो जायें तो क्या वे वियतनामियों से इसी तरह के साझे की बात सोचेंगे? अगर नहीं, तो क्या चीज है जो सैद्धांतिक सहमति को काटती है और हमारा राष्ट्रों में अलगाव करती हैं? जब तक सारी मानव जाति की एक सरकार नहीं होती, तब तक प्रत्येक राष्ट्र को अपने लिए निर्माण करना, अपना विकास करना और अपने से ज्यादा उन्नत देशों के निकट पहुंचने की कोशिश करनी ही होगी। जब तक अधिकांश राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएं और संस्कृतियां निकट नहीं आतीं तब तक अंतर्राष्ट्रीयतावाद सहज और व्यवाहारिक नहीं। यही नहीं

संस्कृति व अर्थव्यवस्था का तभी विकास होगा जबकि राष्ट्रीयतावाद की प्रेरणा से प्रत्येक नागरिक निःस्वार्थ और परिश्रमी बने।

उन्नत और बढ़े हुए देशों के मजदूरों को सत्ता प्राप्त कर अपने हाथ में लेनी होगी, ताकि वे पिछड़े राष्ट्रों के अपने भाइयों की मदद करने की स्थिति में आयें। पर पिछड़े राष्ट्रों के मजदूर इसकी प्रतीक्षा में अपनी क्रांति स्थगित नहीं कर सकते। इस तरह की प्रतीक्षा घातक होगी, क्योंकि इस बात का कोई ठिकाना नहीं कि उन्नत राष्ट्रों के मजदूर कब समाजवाद के लिए लड़ने की हालत में आयें। साम्राज्यवाद ने सभी गोरे देशों के मजदूरों को रंगीन दुनिया के शोषण में भागीदार बना कर वर्गों का अंतर्राष्ट्रीय विभाजन पेचीदा कर दिया है। मजदूरों का अंतर्राष्ट्रीय भाईचारा, जो पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र स्पेन के परिप्रेक्ष्य में बहुत वास्तविक लगने लगा था, अब जब कि गैरयूरोपीय राष्ट्र क्रांतिकारी परिवर्तन की ओर अभिमुख दिख पड़ते हैं काफी धुमिल हो चला है और अतीत की बात सरीखा लगने लगा है।

इस तरह भारत में मार्क्सवाद को दो कमजोरियां आगे नहीं बढ़ने देती— भारतीय समाज के वर्गीकरण की समझ का अभाव और राष्ट्रीयतावादी आस्था का न होना। लोहिया इन दोनों भ्रमों से मार्क्सवादियों को मुक्त करते हैं। मार्क्सवादियों ने अब तक भारत में अंग्रेजी भाषा की बुराई को नजर अंदाज किया है कि वह किस प्रकार एक विशेषाधिकार बनी हुई और शोषण का हथियार है। उन्होंने अपनी खोखली आशावादिता में यह मान रखा है कि आधुनिक शिक्षा के प्रसार से जाति व्यवस्था का रोग दूर हो जायेगा। दुर्भाग्यवश भारत में शिक्षा का मतलब अंग्रेजी ज्ञान होता है। अंग्रजी जाति व्यवस्था की रोकथाम करने और उसे बढ़ने से रोकने के बजाय वर्ग की पकड़ मजबूत करती है। वर्ग के लिए जाति इतना सुदृढ़ और पक्का आधार हैं कि पढ़े-लिखे ऊंची जाति के लोग उसे छोड़ना नहीं चाहते। दूसरी बात यह है कि भारतीय मार्क्सवादी की सीमा व क्षेत्रीय अखंडता जैसे प्रश्नों पर स्पष्ट होना होगा और उसका रुख दृढ़ व अविचलित होना चाहिए, किसी देश के आगे झुकने का नहीं। एक समाजवादी संयुक्त राष्ट्र संघ के पचड़े की जगह एक विश्व सरकार की स्थापना की संभावनाएं हमेशा ढूंढ़ता रहेगा, पर इस खोज में वह हमेशा मातृभूमि का सेनानी भी रहेगा।

●

हिंसा-अहिंसा के संदर्भ में लोहिया

• मधु लिमये

डाक्टर राममनोहर लोहिया अहिंसा और सिविल नाफरमानी के मामले में गांधीजी के भक्त थे। अंदरूनी राजनीति में इन सिद्धांतों पर चलने का उन्होंने प्रयास किया, और उसी रास्ते को अपनाने की प्रेरणा उन्होंने समाजवादी आंदोलन को दी।

विदेशी शासन के खिलाफ हथियारों से लड़ने के वे सिद्धांततः विरोधी नहीं थे। न ही तानाशाही व्यवस्था के खिलाफ वे हथियारों के इस्तेमाल को गलत मानते थे। परंतु भारत की विशिष्ट परिस्थिति में उन्हें गांधीजी का रास्ता ही व्यावहारिक और कारगर प्रतीत हुआ।

साम्राज्यशाही विरोधी लड़ाई को संगठित अहिंसात्मक विद्रोह का रूप देने की कसौटी का क्षण १९४२ में आया। सारे भारत में विदेशी शासन के खिलाफ नफरत और गुस्सा पैदा हो गया था। गांधीजी के 'भारत छोड़ो' नारे से जनता में उत्साह की बिजली दौड़ने लगी।

८ अगस्त १९४२ के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने दिये गये अपने भाषण में गांधीजी ने अंग्रेजी हुकूमत की चुनौती को स्वीकारने का आह्वान किया था। मगर सिविल नाफरमानी कि कोई योजना, कोई सिलसिलेवार कार्यक्रम उन्होंने देश के सामने नहीं रखा था। शायद वे सोचते थे कि वायसराय से वे मिलेंगे, सम्मानीय समझौते का अंतिम प्रयास करेंगे और धीरे-धीरे प्रतिकार की अपनी योजना देश के सामने रखेंगे। उन्होंने १९१९-२१ में ऐसा ही किया था; १९३० में उनके दांडी मार्च से आंदोलन को दिशा और शक्ति मिली थी। मगर अब की बार आंदोलन की रूपरेखा तैयार करने का, उसको क्रमशः विकसित करने का, अंग्रेजों ने उनको मौका ही नहीं दिया। ९ अगस्त को सबेरे ही महात्मा गांधी समेत सभी कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये।

सारा देश नेतृत्वविहीन हो गया। जनता में, युवकों में जोश था। मगर वे नहीं जानते थे कि उन्हें क्या करना है, सरकार से किस तरह लड़ना है। जनता ने प्रदर्शन किये, सभाबंदी के हुक्मों को तोड़ा, लाठी, गोली, अश्रुगैस का सामना किया। साम्राज्यशाही कार्यालयों पर तिरंगा लहराया।

इस पृष्ठभूमि में जो समाजवादी और कांग्रेसी नेता पकड़े नहीं गये थे उन्होंने अ. भा. कांग्रेस कमेटी के नाम पर विद्रोही भूमिगत संगठन स्थापित करने का निश्चय किया। इन लोगों में समाजवादी राममनोहर लोहिया और अच्युत पटवर्धन थे और अरुणा आसफअली, रंगराव दिवाकर, सुचेता कृपलानी जैसे कांग्रेसी भी थे। इन नेताओं न विद्रोह की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने का, उसको दिशा देने का प्रयास किया।

राममनोहर लोहिया ने चाहा कि विरोध इतना उग्र हो कि अंग्रेजी शासन की जड़े उखड़ जायें और जनता के हाथ में ताकत आये। लेकिन प्रतिकार का साधन वे हथियारी विद्रोह को बनाना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने लेखों, भाषणों और परिपत्रों में 'न हत्या, न चोट' के संघर्ष चलाने की सलाह दी।

गांधीजी के सत्याग्रहों में विदेशी हुकूमत के चिन्हों पर प्रहार करने, आवागमन के साधनों को ध्वंस करने की बात पहले कभी नहीं रही। मगर अब की बार की लड़ाई आखिरी लड़ाई थी। 'करेंगे या मरेंगे' की प्रतिज्ञा करने के लिए स्वयं गांधीजी ने कहा था। इसलिए अंग्रेजी शासकों को या उनके मददगारों को हम मारेंगे नहीं, परंतु अंग्रेजी साम्राज्यशाही के प्रतीकों को, उसके आधारस्तंभों को जलाने, उखाड़ कर फेंकने में हम हिचकेंगे नहीं, यह लोहिया जी का कहना था। संघर्ष की मर्यादाओं के बारे में क्रांतिकारियों में बहस चलती रही। क्रांतिकारी मालगाड़ियों को उलट देना अहिंसात्मक क्रांति के विपरीत नहीं समझते थे, मगर मुसाफिरगाड़ियों को या फौज को लेजाने वाली गाड़ियों को गिराने में उन्हें हिचक थी। किशोरीलाल मश्रुवाला जैसे गांधीजी के खास चेलों ने भी अपनी गिरफ्तारी के पहले लोहिया, अच्युत पटवर्धन द्वारा निश्चित की गयी अहिंसात्मक संघर्ष की व्याख्या पर एक तरह से अपनी सहमति व्यक्त की थी।

डाक-तारघरों, रेलवे स्टेशनों को जलाने, रेल की पटरियों को उखाड़ने के कार्यक्रमों में 'न हत्या, न चोट' की मर्यादा का पूर्णतया पालन नहीं होता था। मालगाड़ी के उलटने से ड्राइवर, फायरमैन, गार्ड आदि की जान खतरे में पड़ ही जाती थी। व्यवहार में 'न हत्या, न चोट' वाले सिद्धांत का अर्थ न्यूनतम हत्या ही हो जाता था। फिर भी इसमें उनकी अपनी दृष्टि थी, अहिंसा के सिद्धांत का यथाशक्ति पालन करने का प्रयास था।

अगस्त क्रांति के आंदोलन में दो विचारधाराएं उत्पन्न हुईं। 'न हत्या, न चोट' वाली धारा, जिसमें सामूहिक प्रतिकार और उठान पर बल था और हथियारी संघर्षवाली धारा, जो कुछ इलाकों को छोड़ कर बाकी सब जगह इने-गिने लोगों के जत्थों द्वारा की गयी हिंसा के रूप में ही जीवित रही।

सामूहिक प्रतिकार कुछ दिनों के अंदर ही कुचल डाला गया। कुछ इलाकों में इस अवधि में विदेशी शासन लुप्त-सा हो गया। बाद में अहिंसा-हिंसा के बीच की रेखा धूमिल होने लगी।

महात्मा गांधी ने अपनी गिरफ्तारी के पश्चात गुप्त और भूमिगत आंदोलन के सिलसिले में हुए विध्वंस के कार्यों के बारे में खुल कर कोई राय नहीं दी, बल्कि जब अंग्रेजों ने चाहा कि वे इन कार्यों की निंदा करें तो उन्होंने इंकार किया। उनकी रिहाई के पहले ही लोहिया जी गिरफ्तार हो चुके थे। अच्युत पटवर्धन और अरुणा आसफअली ने प्रकट होने से इंकार किया और अपने प्रतिकार को जारी रखा। लोहिया जी यदि नहीं पकड़े गये होते तो वे क्या करते, यह कहना मुश्किल है। शायद वे गांधीजी से आग्रह के साथ बहस करते और उनसे कहते कि अहिंसात्मक प्रतिकार में भूमिगत आंदोलन, गुप्तता, ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतीकों का नाश आ सकता है, जैसे विदेशी कपड़े की होली असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम का एक अंग था। विदशी कपड़े की होली पर रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के बीच विवाद हुआ था। १९४२ में किये गये कार्यों पर भी इसी तरह का विवाद होता, तो अहिंसक संघर्ष की व्याख्या के बारे में विचारों की सफाई हो जाती।

कुछ लोगों का कहना है कि गांधीजी की सिविल नाफरमानी अंग्रेजों के 'उदारवादी' शासन में ही सफल हो सकती थी। पुर्तगाली साम्राज्यशाही में, हिटलरी तानाशाही में इस तरह का प्रयोग सफल नहीं हो सकता था, न ही उसके लिए मौका ही मिल सकता था। इसके बारे में निश्चयपूर्वक कुछ अंतिम निष्कर्ष-पर पहुंचना संभव नहीं है। लोहियाजी ने गोवा में सिविल नाफरमानी का प्रारंभ किया था, मगर कई कारणों से इसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। इधर कुछ साल पूर्व ही रूसी टैंकों के सामने चेस्कोस्लोवाक देशभक्तों ने अपना सीना खोल कर जो आत्मबलिदान किया वह निःसंदेह प्रेरक रहा। पाकिस्तान में अय्यूबशाही के विरुद्ध कोई हथियारी विद्रोह नहीं हुआ था, जन आंदोलन के दबाव में वहां प्रशासन बदला और पहली बार समान बालिग मताधिकार के आधार पर चुनाव हुए। मुजीब की गिरफ्तारी के पहले बंगला देश में असहयोग आंदोलन इतना प्रभावी रहा कि इतनी सफलता महात्माजी को भी कभी नहीं मिली थी।

ये घटनाएं जल्दबाजी में सिविल नाफरमानी की सफलता पर अंतिम राय देने से विचारकों को रोकती हैं।

१९४८ में भारत आजाद हुआ। लेकिन भारत की आजादी बंटवारे से दंगों-फसादों से, लाखों लोगों के विस्थापन से लांछित हुई थी। खून, कत्ल और नृशंसता के खिलाफ गांधीजी ने जो अहिंसक प्रतिकार की ज्योति जलायी, उसमें उन्होंने स्वयं अंतिम कुर्बानी दी, लोहियाजी स्वयं उसमें गांधीजी के सहयोगी थे। कलकत्ता और दिल्ली में खून और फसाद की ज्वालाओं को निर्भयतापूर्वक बुझाने के कार्य में वे अग्रसर थे। आंतरिक संघर्षों में अहिंसा की परिणामकारिता पर उनके मन में किसी तरह का संदेह नहीं था।

क्या स्वतंत्रता के बाद महात्मा गांधी के भारत को इकतर्फा निरस्त्रीकरण के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा का सबल प्रयोग करना चाहिए था? क्या भारत के शासकों को अपनी सेना को विघटित कर सुरक्षा के लिए जनता की अहिंसक शक्ति पर ही निर्भर रहने का निर्णय नहीं करना चाहिए था? क्या गांधीजी जिंदा रहते तो इसके प्रयोग का वे समर्थन करते? द्वितीय महायुद्ध के समय भारत की स्वतंत्रता को मान्यता देने पर और अंतरिम राष्ट्रीय सरकार के गठन पर युद्ध के संचालन तथा सुरक्षा प्रयासों में सहयोग करना राजाजी-नेहरू-आजाद आदि ने स्वीकारा था। मगर गांधीजी और उनके कुछ शिष्यों ने अहिंसा के सिद्धांत को दृष्टिगत रख कर ऐसा करने से इंकार किया था। उनके कुछ अतिवादी चेलों ने हिंसा के द्वारा प्राप्त हुए स्वराज्य को न छूने तक घोषणा की थी, मगर स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय सेना के प्रमुख का पद ग्रहण करने में उन्होंने आनाकानी नहीं की।

आजादी के बाद स्वयं गांधीजी अहिंसा के अपने सिद्धांत पर अड़े नहीं, उन्होंने सेना की बर्खास्तगी की सलाह नहीं दी। इतना ही नहीं, सेना के अस्तित्व को और उसके इस्तेमाल की अनिवार्यता को एक अर्थ में उन्होंने स्वीकारा। कश्मीर पर कबायली आक्रमण के विरुद्ध भारतीय सेना का इस्तेमाल उन्होंने समर्थनीय ठहराया। बंटवारे के बाद सांप्रदायिक दंगों और सांप्रदायिक विद्वेष की आग को शांत करने में गांधीजी को यदि सफलता मिलती तो क्या राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में, विशेषकर भारत-पाकिस्तान संबंधों में वे अहिंसा के सिद्धांत को लागू करते? इसके बारे में अनुमान और तर्क करना व्यर्थ है। एक बात सत्य है कि न गांधीजी के राजनैतिक उत्तराधिकारी नेहरू ने और न उनके अध्यात्मिक वारिस विनोबा भावे ने अहिंसा के सबल और विकसित सिद्धांत का सुरक्षा और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग किया। हां, विश्व को अहिंसा और शांति के पाठ गांधीजी के इन दोनों शिष्यों ने जरूर पढ़ाये, लेकिन चूंकि इनकी कथनी और करनी में कभी मेल नहीं रहा, इसलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर इनके विचारों का कभी प्रभाव नहीं पड़ा। दुनिया

ने तो यही देखा कि अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर वक्त-बेवक्त शांति के गीत गानेवाले भारत के नये शासकों ने अपनी समस्याओं को हल करने के लिए हथियारों का ही बार-बार उपयोग किया। क्या कश्मीर, क्या जूनागढ़, हैदराबाद और क्या गोवा इन समस्याओं के समाधान के लिए भारत द्वारा अंत में बल प्रयोग ही किया गया और शांति पाठ करनेवाले नेताओं का दंभ और ढोंग सारे विश्व के सामने प्रकट हो गया।

गांधीजी के सिविल नाफरमानी के सिद्धांत पर विश्वास रखनेवाले लोहिया जी की इसके बारे में क्या भूमिका थी? उन्होंने गांधीजी के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्यान्वित करने की दृष्टि से क्या किया? एक दफा उन्होंने इस विषय की चर्चा की थी। उन्होंने कहा कि १९४७ में आजादी के बाद यदि हिंदुस्तान अपनी पलटन बर्खास्त करके ऐलान करता कि हिंदुस्तान अपनी रक्षा बिना पलटन के करेगा, दूसरे तरीके इस्तेमाल करेगा, जनता को न्योता देता कि दूसरे तरीके से अपने राज्य की रक्षा करो, तो एक बात थी। यदि ऐसा होता तो भारत को बिना पलटन के रहने का मौका मिलता, वह तो हुआ नहीं। उसके बजाय पलटन बनी। टूटे-फूटे हथियार आते रहे। सेना पर हर साल ४ अरब रुपया (उन दिनों में) खर्च होता रहा। गांधीजी के सरकारी और मठी, दोनों प्रकार के पुजारियों ने आपस में समझौता किया। सरकारी गांधीवादी (नेहरू) टूटे फूटे हथियार इकट्ठे कर पलटन बनाते रहे और मठी गांधीवादी (विनोबा) सरकारी आश्रय से, राज्याश्रय से दुनिया को अहिंसा सिखाने लगे।

चीनी आक्रमण के समय कुछ गांधीवादियों ने १०,००० स्वयंसेवक अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए सीमा पर भेजने की बात की, तब लोहियाजी ने उसको मजाक ही समझा। वे कहते थे कि या तो संपूर्ण अहिंसात्मक प्रतिकार का रास्ता हम अपनाते और सेना को बर्खास्त करते या फिर शस्त्र से ही प्रतिकार करते। हिंसा-अहिंसा की खिचड़ी पकाना नादानी मात्र है। यह नहीं हो सकता कि एक तरफ पलटन रहे, टैंक, हवाई जहाज और गोली चले, और दूसरी और टांय-टांय फिस सत्याग्रही चीनी सेना के सम्मुख खड़े होने के लिए आगे बढ़ें। ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकेंगी।

फिर यहां प्रश्न उठता है कि पलटन बर्खास्त करने का मार्ग जब लोहियाजी को पसंद आया था तब उन्होंने इसमें पहल क्यों नहीं की, अगुवाई क्यों नहीं की? उन्होंने यह उत्तर दिया की गांधीवाद की इज्जत, गांधीजी के उत्तराधिकारी का रुतबा उन्हें हासिल नहीं था। उसमें गांधीजी का कसूर था या नहीं, यह वे नहीं कह सकते थे। शायद उनको यह बात अखरती थी कि नेहरू और विनोबा

ही को उन्होंने अपने उत्तराधिकारी माना । उनके जैसे विद्रोही और स्वतंत्र बुद्धि के अनुयायियों को नहीं । तो जनता की निगाह में सरकारी गांधीवादी और मठी गांधीवादी को ही उनकी परंपरा का रुतबा मिला । लेकिन ये लोग पचास तरह के इधर–उधर के कार्यों में लगे रहे । लोहिया जी कहते थे कि उन्हें भीतरी अन्यायों के विरुद्ध लड़ना था—लगान, पानी के बढ़ते हुए टिकस, सरकारी दमन कानून, भाषा और जाति आदि कई तरह के अन्यायों के खिलाफ उन्हें लड़ना था। सिविल नाफरमानी के रास्ते लड़ते–लड़ते उन्होंने कुछ गांधीवादी होने का रुतबा जरूर हासिल किया, मगर इतना नहीं कि हिंदुस्तान के ४४ करोड़ लोग उनको सच्चा गांधीवादी मानते । उनके जीवनकाल में 'मान्यताप्राप्त' गांधीवादी दूसरे लोग ही रहे । वे कहते थे कि यदि किसी समय गांधीजी के सच्चे उत्तराधिकारी का रुतबा उनको मिलेगा तो वे पलटन बर्खास्त कर अहिंसात्मक सुरक्षा नीति चलाने के मामले में आगे बढ़ने की बात सोच सकते हैं । फिलहाल उनका कर्त्तव्य अंदरूनी अन्यायों के विरुद्ध डट कर शक्ति और रुतबा प्राप्त करने की कोशिश करना ही है ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इकतर्फा निरस्त्रीकरण, एक–विश्व आंदोलन आदि की जो धाराएं पश्चिम जगत में उदित हुईं, उनके प्रति लोहियाजी की इसीलिए सहानुभूति थी । मगर वे कहते थे कि पश्चिमी देशों की स्थिति में और रंगीन दुनिया के मुल्कों में काफी अंतर है। पश्चिम के देशों ने सदियों तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अनुभव किया है । मगर भारत सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुआ । लोहियाजी जानते थे कि पिछले हजार–डेढ़ हजार साल राष्ट्रीय याददाश्त में बड़े कड़वे साल थे, लगातार हम विदेशी आक्रमणों के शिकार रहे । इसलिए राज्य की बुनियाद को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रश्न को, राष्ट्रीय स्वतंत्रता को वे परम महत्व का प्रश्न समझते थे । इसलिए चीनी आक्रमण के समय उन्होंने कहा था कि "हमारा राज्य उखड़ने की नौबत आये और हमारी जमीन पर विदेशी पलटन चढ़ती चली आ रही हो, उस मौके पर अपनी जमीन और राज्य की रक्षा करने के लिए हमको जो हथियार जहां से मिलेंगे उनका हम प्रयोग करेंगे। और, हमको अणुबम भी मिल गया तो मेरे जैसा आदमी हिचकेगा नहीं उसका प्रयोग करने में ।"

इसी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मूल्य के महत्व को समझने के कारण, गुटनिरपेक्षता की नीति में अटूट विश्वास रखनेवाले डाक्टर लोहिया किसी भी देश से हथियार प्राप्त कर विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के पक्ष में थे । भारत को हथियार देने वालों के प्रति उन्होंने आभार प्रकट किया ।

क्या लोहियाजी तानाशाही देशों में फौजी प्रशासन के खिलाफ अहिंसात्मक प्रतिकार के हथियार को उपयुक्त समझते थे ? क्या विगत साल पूर्वी बंगाल में यहियाशाही

के विश्वासघात और नृशंसता के बाद भी वे बंगला देश की जनता को असहयोग और सिविल नाफरमानी का ही अंत तक इस्तेमाल करने की सलाह देते ? इसमें शक नहीं कि प्रथम अवस्था में शेख मुजीबुर्रहमान और उनकी अवामी लीग ने जिस धैर्य और कुशलता के साथ अहिंसात्मक असहयोग की तकनीक का सबल ढंग से प्रयोग किया और यहियाशाही की जड़ें उखाड़ीं, उस पर उन्हें बड़ी खुशी होती । लेकिन अंतिम अवस्था में बंगला देश के युवकों के द्वारा हथियारों का उठाना वे कदापि निषिद्ध नहीं मानते। सरहदी गांधी खान अब्दुल गफ्फार खां के स्वतंत्र पख्तून आंदोलन के प्रति उनको विशेष आस्था थी । इसके बारे में भारत की जो परस्पर विरोधी, ढुलमुल और असंगत नीति थी, उसके वे आलोचक थे। १९६५ में मास्को से लौटते समय वे काबुल ठहरे थे और उन्होंने सरहदी गांधी से स्वतंत्र पख्तून आंदोलन के बारे में चर्चा की थी। इसके पहले के कई वर्षों में भारत के प्रधानमंत्रियों से लोहियाजी ने न कभी मुलाकात की, न ही उनसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों या कूटनीति पर चर्चा की। लेकिन काबुल से वापस आने पर वे श्री लालबहादुर शास्त्री से मिले थे और हवाई जहाज तथा हथियार आदि भेजने का गफ्फार खां का अनुरोध उन्होंने शास्त्रीजी के पास पहुंचाया था। शास्त्रीजी से उन्होंने जोरदार शब्दों में आग्रह किया कि वे हर प्रकार से पख्तूनों की सहायता करें। पाकिस्तान के साथ रिश्ते बिगड़ने पर पख्तूनों को याद करना और कुछ रिश्ते ठीक होने पर उनको भुला देना ठीक नहीं है।

क्या इन सारी बातों को देखते हुए हम इसी नतीजे पर पहुचें कि तानाशाही और फौजी शासनों में अहिंसा के जरिये वे अंतिम कामयाबी मुमकिन नहीं समझते थे ? इस पर शायद दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अंतिम निर्णय नहीं किया था। मगर व्यवहार में वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे, शायद इसलिए कि स्वतंत्रता और लोकतंत्र के मूल्यों को वे अहिंसा के मूल्य से अधिक महत्त्व देते थे।

लेकिन यह बात निःसंदेह है कि लोकतांत्रिक प्रशासन में उसकी कमियों को, दोषों को दूर करने के लिए, अन्याय, जुल्म और शोषण के प्रतिकार के लिए सत्ता हस्तांतण के लिए भी अहिंसात्मक प्रतिकार और असहयोग को वे अकेला पैना और कारगर शस्त्र समझते थे।

समाज में छोटे–बड़े अन्यायों के खिलाफ लगातार, अखंड लड़ाई हथियारों से नहीं हो सकती। अखंड प्रतिकार अहिंसात्मक तरीकों से ही संभव है। सिविल नाफरमानी को लोहियाजी स्थायी कर्तव्य, स्थायी धर्म मानते थे।

उनकी सिविल नाफरमानी में साधारण जनता के हृदय परिवर्तन का विशेष महत्व था। दुश्मन के मन परिवर्तन को वे इतना महत्व नहीं देते थे। गांधीजी ने

सत्याग्रह शास्त्र पर जो लिखा उसमें उन्होंने अक्सर प्रेम, सद्भाव, दुश्मन का हृदय परिवर्तन आदि की चर्चा की। लेकिन उनके सत्याग्रह का यह पहलू भी कम महत्वपूर्ण नहीं था कि वे उदासीन लोगों की आस्था को सत्याग्रहियों के त्याग और बलिदान से जगाना चाहते थे।

श्री विनोबा भावे जैसे कुछ गांधीजी के चेलों ने प्रेम और हृदय परिवर्तन वाली ही बात पकड़ी और सिविल नाफरमानी के प्रमुख उद्देश्य—अन्याय का प्रतिकार, जनजागरण और जनशक्ति के संगठन को बिल्कुल छोड़ दिया। इतना ही नहीं, गांधीजी के अहिंसात्मक प्रतिकार में अन्याय के प्रति चिढ़ और गुस्से का जो अंश था, उसको विनोबा आदि तामस, विध्वंसक और नकारात्मक मानने लगे थे। सत्याग्रह को सौम्य, सौम्यतर, सौम्यतम रूप देकर वे उसको 'दोषमुक्त' और 'प्रेममय' बनाना चाहते थे।

यही कारण है कि गांधीवाद के इस स्वातंत्र्योत्तर सर्वोदयी अवतार को निहित स्वार्थों ने, यथास्थितिवादी शक्तियों ने कभी अपना दुश्मन नहीं समझा, उसके उदय से सत्ताधारी वर्गों के अस्तित्व को कोई खतरा उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने इस सर्वोदयवाद की हर प्रकार से मदद की और इसे क्रांति और जन विक्षोभ के विरुद्ध एक सहारा माना।

मेरे संसदीय क्षेत्र में अधिकारियों से मिल कर जमीनों की लूट करनेवाले, जनता का शोषण करनेवाले शक्तिशाली तत्वों के विरुद्ध लड़नेवाले सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को सर्वोदय के आचार्यों से कभी प्रश्रय नहीं मिला, यह इसी का सूचक है। मुझे लगता है कि जयप्रकाश जी संघर्ष की आवश्यकता और अनिवार्यता पर बीच-बीच में जो वक्तव्य देते थे वे भी इन आचार्यों को कभी नहीं भाये।

सिविल नाफरमानी को लोहियाजी ने भारत की राष्ट्रीय सीमाओं में कैद करना नहीं चाहा, न ही वे गांधीजी के राजनीतिक शिष्यों की तरह उसके प्रयोग को आजादी के पश्चात गैरजरूरी या हानिकारक समझने लगे। ऐसे विचारों को वे अत्यंत संकुचित और एक माने में अपनी जन्मदायी माता पर प्रहार करने का घृणित काम समझते थे।

महात्मा गांधी भारत में सामूहिक सिविल नाफरमानी के जनक थे, मगर उनके पहले भी व्यक्तिगत स्तर पर इसका प्रयोग होता रहा है। लोहियाजी प्रहलाद और सुकरात को सत्याग्रह के आद्य प्रवर्तक कहते थे। महात्माजी ने डरपोक लोगों को बहादुर बनाया, और सामुदायिक ढंग से अन्याय का प्रतिकार करने की सीख उन्होंने हजारों को पहले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में हिंदुस्तान में दी। सिविल नाफरमानी एक सार्वजनीन और स्थायी चीज है। मुख्तलिफ अन्यायों के खिलाफ

इस तकनीक को अपनाया जा सकता है, ऐसा लोहियाजी का विश्वास था। जब भारत में गांधीजी के चेले इस शस्त्र को स्वतंत्रता के पश्चात अनावश्यक समझने लगे थे या उसको सौम्य बनाने की बात करने लगे थे, अमरीका में नीग्रो मार्टिन लूथर किंग के रूप में महात्माजी फिर अवतीर्ण हुए। इस नीग्रो नेता ने साबित कर दिया कि महात्माजी का संदेश अब भी प्रेरक है और सिविल नाफरमानी का इस्तेमाल वंशवाद और नीग्रो लोगों पर हुए अन्यायों के खिलाफ किया जा सकता है। स्वयं लोहियाजी ने अमरीका के अपने १९६४ के दौरे में सिविल नाफरमानी में हिस्सा ले कर शासकों की शौकीनीवाली भ्रष्ट विश्वयारी के मुकाबले में सत्याग्रहियों की त्याग और तकलीफ की विश्वमैत्री का आदर्श पेश किया था।

लोहियाजी की धारणा थी कि स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देशों में बुनियादी परिवर्तन केवल वोट या वैध आंदोलनों के जरिये संभव नहीं है। उनकी मान्यता थी कि वोट एक प्रासंगिक चीज है, वोट का मौका तो वर्षों में एक मरतबा मिलता है, मगर सिविल नाफरमानी–व्यक्तिगत और सामूहिक–एक स्थायी चीज है।

पैसा, सरकारी तंत्र, आलस्य इस सारी चीजों के चलते, वे जानते थे कि वोट का फायदा भी शक्तिशाली वर्गों को ही मिला करता है। परिवर्तनवादी शक्तियों को वोट की लड़ाई में कामयाबी पाना मुश्किल ही है, मगर जनविद्रोह के संदर्भ में वोट की लड़ाई परिवर्तनवादी जीत सकेंगे।

कांग्रेस सरकारों द्वारा सिविल नाफरमानी के प्रति जो अनास्था बरती जाती थी उसको वे खतरनाक समझते थे। अक्सर देखा जाता था कि सिविल नाफरमानी के शस्त्र को अपनानेवालों की न्यायसंगत बातों की ओर बिल्कुल ध्यान न देने वाली कांग्रेस सरकारें हमेशा हिंसा के उद्रेक के सामने घुटने टेक देती थीं। लोहिया जी कहते थे कि शायद सरकार स्वयं लोगों को हिंसा के लिए प्रवृत्त करना चाहती है या उनको हमेशा निष्क्रिय ही देखना चाहती है।

१९६६ में संयुक्त समाजवादी पार्टी के सम्मेलन के सामने जो नीति वक्तव्य आया उसमें स्वयं लोहियाजी ने मुझे हिंसा–अहिंसा की बहस को छेड़ने के लिए कहा था। उसमें उनका उद्देश्य इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं की चर्चा मात्र करना था। उन्होंने मुझसे कहा था कि अंत में इन वाक्यों को निकाल ही देना है। इस विषय पर कोटा सम्मेलन में चर्चा हुई थी। मगर कोई अंतिम निष्कर्ष पर न सम्मेलन पहुंचा न लोहियाजी पहुंचे। कोटा के नीति वक्तव्य में सिविल नाफरमानी और शांतिपूर्ण परिवर्तन पर समाजवादी दल ने पुनः विश्वास प्रकट किया।

उनके अंतिम दिनों में अक्सर वे कहा करते थे कि यदि उनकी उम्र १०–१५ वर्ष कम होती तो अहिंसा–हिंसा के बारे में वे क्या सोचते कहना मुश्किल है। मगर

मेरी राय में यह उनका केवल मुक्त चिंतन मात्र था। वास्तव में उनकी श्रद्धा अहिंसा के रास्ते से हिली थी ऐसा कहना मुश्किल है। निहत्थी जनता पर सरकार द्वारा बार-बार गोली चलाये जाने पर उनको ग्लानि जरूर होती थी।

वे क्रांतिकारी हिंसा के समर्थकों के बारे में अनुदार दृष्टि नहीं रखते थे। मगर उनकी नजर में महत्वपूर्ण सवाल अहिंसा का संगठन करना या समझबूझ कर हिंसक क्रांति की तैयारी करना था। अहिंसात्मक संघर्ष के दौरान, अंतिम अवस्था में जनता द्वारा स्वयं प्रेरित ढंग से, तात्कालिक हिंसा होना अनिवार्य है या नहीं. यह प्रश्न मौलिक नहीं है। क्योंकि इस अंतिम संभावना पर किसी नीति का या संगठन का निर्धारण मुमकिन नहीं है। आज तो लोकतांत्रिक चौखटे में, चाहे वह कितना भी दोषपूर्ण क्यों न हो, संगठन अहिंसात्मक प्रतिकार ही का करना पड़ेगा, ऐसा उनका विश्वास था।

सिविल नाफरमानी अधिक से अधिक भारतीयों की एक आदत-सी बननी चाहिए। राजनीतिक दलों की सफलता का एक द्योतक यह है कि उन्होंने ऐसे कितने व्यक्तियों को पैदा किया है? जहां तक सामूहिक सत्याग्रह का प्रश्न है, यह तो जनता की तैयारी पर, सरकारी दमन पर और अन्याय पर निर्भर करेगा। सत्याग्रह को रस्म अदायगी का स्वरूप नहीं प्राप्त होना चाहिए, ऐसा वे कहते थे। सिविल नाफरमानी से समाज में अराजकता, कानून और व्यवस्था के प्रति उदासीनता और अनुशासनहीनता पैदा होगी, यह उन्हें मान्य नहीं था।

सरकारी जुल्मो सितम के खिलाफ न लड़नेवाली जनता अंत में विदेशी आक्रमणों की शिकार हुआ करती है, ऐसा निष्कर्ष वे इतिहास से निकालते थे। सिविल नाफरमानी की सफलता में सबसे बड़ी बाधा वे जनता की दीर्घकालीन उदासीनता और अनास्था और वक्ती गुस्सा या चिढ़ है, ऐसा मानते थे।

क्या इस अनास्था पर, उदासीनता पर काबू पाना कभी संभव है? क्या उसके बिना जनता में अखंड चेतना प्रज्ज्वलित किये बिना, अहिंसा मौलिक समाज परिवर्तन का साधन बन सकती है? क्या किसी विशिष्ट अन्याय या जुल्म के या शिकायत के निराकरण के लिए अहिंसा के हथियार का कारगर होने और समाज के अंदर के संपत्ति और सत्ता के रिश्तों में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए उसके प्रभावी होने में बड़ा फर्क नहीं है?

क्या बिना हिंसा और बल का प्रयोग किये जमीन और जायदाद के मालिक भूमि का और संपत्ति का बंटवारा होने देंगे? और क्या वीरता की अहिंसा का प्रयोग एक-दो, सौ-दो सौ व्यक्ति नहीं समूह कर पायेगा? और सो भी एकाध बार नहीं सतत, अखंड?

व्यवहार में अहिंसात्मक प्रतिकार परिवर्तन का साधन बनेगा या केवल तात्कालिक जनजागरण और चेतना का, जिसके संदर्भ में सरकार को चुनावी हार और विरोधियों की जीत मात्र संभव होगी? उस हालत में अहिंसात्मक असहयोग और सिविल नाफरमानी की भूमिका क्या गौण, दूसरे दर्जे के हथियार के रूप में ही नहीं रहेगी?

किसी जनक्रांति का प्रारंभ बिना हथियार उठाये ही होता है। जब पुरानी व्यवस्था सड़ जाती है, उसमें सुधार की गुंजाइश समाप्त हो जाती है, उसके सत्ताधारी वर्ग का आत्मविश्वास लुप्त हो जाता है और जनसमूह नये सपनों से आशान्वित हो कर सक्रिय बनता है, तो लोकक्रांतियां हुआ करती हैं। फ्रांसीसी, रूसी और बंगलादेशीय लोकक्रांतियों की प्रारंभिक अवस्था में अहिंसात्मक विद्रोह ही हुआ, हथियार आये बाद में, सत्ताधारी वर्ग की नृशंसता के जवाब में।

मगर हथियारी जत्थों की क्रियाशीलता को प्रधानता देनेवाले माओवादी, चे गुवेरावादी दर्शनों में जनशक्ति को मुक्त करने की ताकत कहां? ऐसे परिवर्तनों के द्वारा जनसत्ता, जनस्वामित्व कहां से निकलेंगे? क्या उनकी परिणति अंत में सत्ता के केंद्रीकरण में और मानवता के शोषण में होना लाजमी नहीं है?

लोहियाजी के मन में भी अहिंसात्मक प्रतिकार की अंतिम सफलता के बारे में प्रश्नचिन्ह जरूर थे, मगर अधिकांश क्षेत्रों में और बहुत दूर तक यही कारगर होगा, इसके बारे में उन्हें संदेह नहीं था। चुने हुए वीरों के हथियारी जत्थों के माध्यम से क्रांति करना चाहनेवालों के रास्ते के बारे में उनकी शंकाएं बुनियादी थीं, अंतिम सफलता के बारे में ही नहीं, बिल्कुल प्रारंभिक परिणामकारकता के बारे में भी।

संक्षेप में सिविल नाफरमानी और अणुबम को वे बीसवीं सदी का मौलिक द्वंद्व समझते थे। उनकी निगाहों में सिविल नाफरमानी कोई परिपूर्ण दर्शन नहीं था, वह एक प्रयोग था जिसकी सफलता पर, वे समझते थे समस्त मानव जाति का भविष्य निर्भर है।

●

अराजकतावाद और अहिंसा

● कृष्णनाथ

अराजतकतावादी चिंतन में साधन के सिलसिले में हिंसा–अहिंसा पर सोच हुआ है। अराजकतावादी स्वप्न के मूल में हिंसा नहीं है। गॉडविन और प्रॉउधों तो निश्चय ही शिक्षा, मान मनव्वल, तर्क और विवेक पर बल देते हैं। बाकुनिन तर्क को अपर्याप्त मान कर प्रत्यक्ष कार्रवाई पर जोर देते हैं। क्रांतिकारी कार्रवाई का समर्थन क्रोपाटकिन भी करते हैं। शुद्ध तर्क मुझे भी निर्वीर्य लगता है। तर्क से किसी बात की बात की प्रतिष्ठा नहीं होती। क्रांति तो अतर्क्य है। उन्नसवीं सदी में प्रत्यक्ष कार्रवाई या क्रांतिकारी कार्रवाई का सिर्फ एक रूप था वह था बम, साजिश, हथियारी बलवे का। बीसवीं सदी में गांधी के महान प्रयोग ने सत्याग्रह का, सक्रिय अहिंसक प्रतिकार का आविष्कार किया। राममनोहर लोहिया, मार्टिन लूथर किंग और दूसरों ने भी अलग–अलग परिस्थितियों में सक्रिय अहिंसक प्रतिकार का अस्त्र इस्तेमाल किया। मेरा यह विश्वास है कि व्यक्तित्व के आदर के साथ अहिंसक प्रतिकार ही चल सकता है। हिंसा में व्यक्तित्व का नितांत निरादर ही नहीं, अंत है। हिंसा अधिकार की, सत्ता की राज्य और सरकार की विनाशकारी प्रत्यक्ष कार्रवाई है। यह बलपूर्वक एक व्यक्ति या दल या सरकार या राज्य की इच्छा को दूसरे पर आरोपित करने का माध्यम है, इसलिए मेरी दृष्टि में अराजकतावाद के साथ इसका मेल नहीं है।

मैं यह जानता हूं कि वर्तमान अराजकतावाद के नये दौर में हिंसा पर जोर है। वह भी "मार के टर रहे" जैसी हिंसा पर। कुछ जलवा पैदा करने की प्रवृत्ति है। मेरी आपत्ति यह है कि पहले तो हिंसा के जरिये कोई बुनियादी परिवर्तन हो नहीं सकता। हिंसा के जरिये एक बुराई के बदले उसी किस्म की दूसरी बुराई ही बैठायी जा सकती है। ईसा का यह उपदेश सदा ध्यान में रखने जैसा है "जो तलवार से जीतते हैं वे तलवार के घाट ही उतरते हैं।" इससे भी ज्यादा यह कि एक तलवार के बदले दूसरी तलवार का राज्य हो तो इससे फर्क क्या पड़ता है?

दूसरे राज्य संगठित हिंसा है। और हिंसा राज्य की शक्ति का क्रूर हथियार है। राज्य की हिंसा तो हिंसा और अराजकी हिंसा हिंसा नहीं। यह तो "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", जैसा कुतर्क है। साहित्यिक ज्यादती है। फिर बीसवीं सदी में हिंसा और नाश के हथियारों की टेक्नालाजी और मारक शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि जन साधारण हथियारी क्रांति के जरिये राज्य सत्ता को वास्तविक रूप से तब तक नहीं पलट सकता जब तक कि बाहरी शक्ति से हथियार और राजनीतिक संरक्षण न मिले। पश्चिमी बंगाल में नक्सलपंथ की असफलता और पूर्वी बंगाल में बंगला देश की सफलता का उदाहरण अत्यंत निकट का है। जब बाहर से हथियार और संरक्षण मिलता है तो बाहर का प्रभाव भी आता है। यह भी अराजकतावादी के हर प्रकार के बाहरी सत्ता के निषेध के विपरीत जाता है।

तीसरे, अहिंसक प्रतिकार के बिना व्यक्ति के सम्मान और यहां तक कि स्वतंत्र अस्तित्व की, सत् और सत्व की आज कल्पना नहीं की जा सकती। एक अकेला व्यक्ति भी बिना किसी संगठन के सहारे पूरे राज्य, वैराज्य, साम्राज्य की सत्ता के खिलाफ 'नहीं' कर सकता है और उस नकार पर आरूढ़ रह सकता है। एक अकेला हरिजन या नीग्रो भी पूरे द्विज या गोरे समाज के अन्याय के खिलाफ 'नहीं' कर सकता है। और इसके परिणाम वह खुद झेलता है। इसमें हिंसा फूट सकती है, जैसे कि गांधी और मार्टिन लूथर किंग के प्रयोग में फूटी, किंतु जो खून बहेगा वह सत्याग्रही का अपना होगा, न कि दूसरे का। इससे जो जनशक्ति जाग्रत होगी वह महत्वपूर्ण परिवर्तन लायेगी।

चौथे, छिटपुट हिंसा और जल्दबाजी मुझे इसलिए भयावह लगती है कि इससे एक दो को गौरव का प्रभामंडल भले मिले, सैकड़ों, हजारों, शायद लाखों बेगुनाह गरीबों की तो मौत हो जाती है। छिदा छिदा हिंसा से जब एक बार राज्य और पुलिस और पलटन की हिंसा को कार्रवाई करने का बहाना मिल जाता है तो फिर इसकी विकरालता के आगे वह छिटपुट हिंसा टिकती नहीं। दूसरे, इसके नेता तो भूमिगत हो जाते हैं, कार्यकर्ता और राह चलते ही भोगते हैं। हर हालत में राज्य की बड़ी संगठित हिंसा अराजकतावादी की असंगठित और छोटी हिंसा को दबोच लेती है, और फिर मामूली लोगों में किसी प्रकार के प्रतिकार की शक्ति या युक्ति नहीं रह जाती। हिम्मत टूट जाती है।

पांचवें, सत्ता के प्रतिकार को अगर जन–आधारित बनाना है, और वह तो करना ही है, क्योंकि समाजवाद की तरह ही अराजकतावाद का जन्म जनता के बीच हुआ और यह तभी सृजनशील और जीवत रह सकता है जब कि वह जनता के बीच रहे, मछली अपने जल में रहे, चाहे प्यासी ही रहे। यह प्रतिकार जनाश्रयी है तो प्रतिकार प्रत्यक्ष अहिंसक कार्रवाई का ही हो सकता है। व्यक्तिगत सिविल

नाफरमानी के बिना तो आज की दुनिया में कोई सम्मानपूर्वक जी नहीं सकता। यह तो एक बच्चा भी अपने मां-बाप के खिलाफ, पत्नी पति या पति पत्नी की ज्यादती के खिलाफ कर सकते हैं, शायद करते भी हैं। सामूहिक सत्याग्रह के लिए संगठन और अनुशासन और परिस्थिति का परिपाक जरूरी होता है। आम हड़ताल से ज्यादा कारगर आम सत्याग्रह है। इसके रूप धरना, बहिष्कार, बंद, घेरा डालो, कब्जा करो वगैरह हो सकते हैं।

क्रांति के शास्त्र में हिंसा सनातन है, मनुष्य स्वभाव में भी। क्रांति के लिए अहिंसा का प्रयोग गांधी का नया है। इसकी पूरी संभावनाएं अभी न तो परखी गयी हैं, न इसकी गूंज ही लोक में पूरी तरह हो पायी है। मेरा विश्वास है कि अराजकतावादी आंदोलन के अगले दौर में इस पर ज्यादा निष्ठापूर्वक कार्रवाई होगी। वैसे आज भी प्रत्यक्ष अहिंसक कार्रवाई वाले गुट देश और दुनिया में काम कर रहे हैं। लेकिन वे फिलहाल कुछ संकोच में हैं और हिंसा की सर्वग्रासी सत्ता से अभिभूत हैं।

* * * *

हिंसा अहिंसा का यह प्रश्न अराजकतावादी रुझान से भी जुड़ा हुआ है। हिंसा, साजिश, हथियारी क्रांति, आतंकवाद चिदा चिदा विद्रोह का सपना देखने वाला अराजकतावादी समाज के बाहर हो जाता है। चे गुएरा की डायरी पढ़ते हुए मुझे लगा कि कैसे वह बोलिविया में समाज से कट कर जंगल में एक कुटिया में कैद हो गया। पीने के पानी के लिए भी तरसा। बाहर निकलने पर एक बुढ़िया भी उसके लिए आतंक और संशय का कारण बनी, और फिर कैसे वह सबसे कट कर गिरफ्तार कर लिया गया और खत्म कर दिया गया। शारीरिक रूप से समाज से कटना तो भयावह है ही, किंतु इससे भी ज्यादा मारक है मानसिक रूप से समाज से से कट जाना। अराजकतावादी अपने को संकल्पपूर्वक समाज के बाहर कर लेता है। इस तरह बाहर मान कर स्वयं को और दूसरों को, जन साधारण को अराजकतावादी किस प्रकार मुक्त कर सकता है?

हिमालय की गुफा या औरत-मर्द की जांघों के बीच चले जाने से मुक्ति नहीं मिलती। और अगर मिलती भी हो तो मुझे वह श्रेयस्कर नहीं लगती। इसलिए अराजकतावाद के नये दौर में जो पलायन की प्रवृत्ति आ रही है उसे भी रोकना जरूरी है। युवा प्रतिसंस्कृति का यह खास लक्षण बन रहा है। व्यक्तित्व का पूरा निखार तो अपने दायित्व के निर्वाह और उसके बीच जीने और उसे भोगते हुए छूट जाने में है। यह जो सारा जड़ चेतन जगत है वह तो मेरे शरीर, मन, प्राण, अहंकार का विस्तार है। प्राण का अंत है। इसे भोगते हुए इससे छूट जाना है या इसे त्याग करते हुए भोगना है। शरीर रहते इससे छुटकारा नहीं है।

इसलिए कोई अराजकतावादी या कोई प्राणी सचमुच जगत से बाहर हो नहीं सकता, यह जान कर भी कोई बहरियाये जाने के सुख में डूबा रहना चाहता है तो क्या किया सकता है ?

अराजकतावाद सिर्फ स्वातंत्र्यवादी लक्ष्य या उसका आंदोलन नहीं है। वह तो है ही, लेकिन इससे भी ज्यादा यह एक दिमागी रुझान है, एक मिजाज है, एक तेवर है। इस तेवर के मामले में नये शायद पुरानों से ज्यादा तेज तरार्र हैं, लेकिन मूल रूप से एक जैसे हैं। आज जब कि राज्य और संगठन और मशीन और हथियार इतने जबर्दस्त हो रहे हैं, इनका इतना दबदबा है, यह तेवर भी क्या कम है? हम किसी की खास परवाह नहीं करते। किसी एक या दूसरी सत्ता को ही नहीं, हर बाह्य सत्ता को हम नकारते है। राजसिंहासन को, संगठन, मशीन, वित्त, सम्मान, देश सबको खारिज कर सकते हैं। चारों दिशाओं में आग लगा कर अकेले विचरते हैं। यह तेवर भी चौतरफा जकड़न को छिन्न करता है। अधिकार और अनन्य अधिकार को अनन्य रूप से ललकारता है। यह ललकार पुरानी भी है, और नयी भी इसकी पूरी गूंज इतिहास में होने को है।

•

भारतीय बौद्धिक को लोहिया की चुनौती

● डा. रघुवंश

मुझसे कहा गया कि लोहिया के व्यक्तित्व ने हिंदीभाषी इलाके के बौद्धिकों की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया है, जबकि दूसरे क्षेत्रों में लोहिया को लेकर बौद्धिक वर्ग गलतफहमियों का ही शिकार रहा। यह तथ्य उसी सीमा तक सही माना जा सकता है, जिस सीमा तक यह माना जा सकता है कि कि संपूर्ण भारतीय बौद्धिकवर्ग को उसी रूप में डा. लोहिया अपने प्रभाव क्षेत्र में ले सके हैं, जिस रूप में वह उनके द्वारा भारतीयकरण की समाजवादी प्रक्रिया को प्रति जागरूक होकर उसका माध्यम बनने के लिए तैयार हुआ है। और तब ऊपर के कथन का अर्थ यह लिया जा सकता है कि डा. लोहिया द्वारा यह गत्यात्मक प्रक्रिया हिंदी-भाषी बौद्धिकों द्वारा अधिक समझी जा सकी और वे इस कारण उनके व्यक्तित्व के प्रति अधिक आकर्षित हुए। अपेक्षया अन्य क्षेत्रों के बौद्धिक या तो विश्व नागरिकता मार्का नेहरूवाद के प्रभाव में अधिक रहे अथवा दूसरी सीमा पर वे क्षेत्रवाद के प्रभाव में अनेक कारणों से आते गये।

व्यक्तिगत रूप से मैं ऊपर के तथ्य को आंशिक रूप से ही सही मानता हूं। हिंदी क्षेत्रों के बौद्धिकों का बहुत बड़ा भाग डा. लोहिया के प्रति अपनी प्रतिक्रिया में अन्य क्षेत्रों के अपने समानधर्मियों के समान रहा है। इसके विपरीत हर क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जो डा. लोहिया की इस समाजवादी नयी दृष्टि से आकर्षित और प्रभावित रहे हैं। यह मान लेता हूं कि अनुपात में हिंदी क्षेत्र में यह संख्या अधिक रही है। इसके अपने कारण हैं और उन पर प्रारंभ में विचार किया जा सकता है। पर अधिकांश में इस बात को डा. लोहिया के उस प्रयत्न के माध्यम से समझा जा सकता है जिसके अनुसार उन्होंने सारे बौद्धिक वर्ग के मानस को एक खास स्तर पर गति प्रदान करने की चेष्टा की है।

आधुनिक भारतीय बौद्धिक वर्ग के विकासक्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त, पश्चिमी विशेषकर अंग्रेजी संस्कृति से प्रेरणा पानेवाला

और वहीं से आधुनिक जीवन के आदर्शों को ग्रहण करनेवाला वर्ग प्रमुखतः दो धाराओं में आगे बढ़ा है। इनके नेतृत्व की दिशा भी इसी प्रकार रही है और पुनरुत्थान युग के नेताओं से ही यह बात देखी जा सकती है। एक बौद्धिक परंपरा में ऐसे लोग आते हैं, जो पश्चिमी संस्कृति, जीवन-पद्धति और प्रभाव से इतने आक्रांत रहे कि वे यह मान कर चले हैं कि पश्चिम की नकल करने में ही हमारा कल्याण है। यदि यूरोप के समान होना है, तो हर प्रकार से यूरोप की नकल करनी होगी। इस वर्ग के मन में अपने देश, समाज और परंपरा के प्रति हीन-भाव रहा है। वस्तुतः पश्चिमी संस्कृति का आक्रामक प्रभाव इसी वर्ग पर देखा जा सकता है। अंग्रेजी शिक्षानीति का प्रमुख दृष्टिकोण भी यही था कि अपने ढंग की शिक्षा-पद्धति के माध्यम से भारतीयों के मन में एक ओर अपने संपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रति हीन-भाव उत्पन्न कर देना, दूसरी ओर यूरोप के अंधानुकरण को आधुनिकता तथा प्रगति का स्रोत स्वीकार कराना। बौद्धिक वर्ग की एक दूसरी परंपरा इस शिक्षा के प्रकाश में अपने इतिहास, परंपरा ओर संस्कृति के प्रति अधिकाधिक आकर्षित हुई है। उसने अपने प्राचीन गौरव को अन्वेषित करना चाहा है। परंतु प्रायः इस वर्ग के मन पर भी यूरोप की आधुनिकता का आतंककारी प्रभाव बना रहा है, जिसके प्रभाव में उन्होंने अपने देश की प्राचीन परंपराओं में आधुनिकता के तथाकथित तत्वों को खोजने का प्रयत्न किया है अथवा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत के पास यूरोप को देने लायक वस्तु है—आध्यात्मिक साधना। यानी कि यूरोप की आधुनिक संस्कृति के विभिन्न तत्वों को ग्रहण करने के साथ हम यूरोप को आध्यात्मिक जीवन का उपदेश भी दे सकते हैं।

उन्नीसवीं शती से अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार और पश्चिमी संस्कृति के संघात के साथ हमारा पढ़ा-लिखा समाज अपने देश, समाज और संस्कृति से अपरिचित होता जा रहा था। पश्चिमी इतिहासकार, धर्म-पुरोहित और शिक्षाशास्त्री भारतीयों के मन में अपनी परंपरा के प्रति हीन-भाव और छिपा हुआ घृणा-भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करने का प्रयत्न करते रहे थे। अतः उनका सारा मानस यूरोप की सारी जीवन-पद्धति से अभिभूत और चमत्कृत हो उठा था। मजे की बात है कि इस जीवन-पद्धति में आधुनिक संस्कार के साथ यूरोप के अनेक परंपरित, विजड़ित और सड़े-गले संस्कार भी शामिल थे, जिनकी तुलना में हमारी परंपरा में कहीं व्यापक, उदात्त और गतिशील तत्व विद्यमान थे। अंग्रेजों ने इस शिक्षित समाज का निर्माण अपने राष्ट्रीय हित में मुख्यतया और यूरोप की आधुनिक संस्कृति के पक्ष में व्यापक रूप मे किया था। उन्होंने इसी कारण भारतीय शिक्षा, संस्कार और संस्थाओं की परंपराओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था।

इस शिक्षा की उपज गुलाम मन के बहुत से लोग आज भी आधुनिक भारत की चर्चा करते समय इस तरह बात शुरू करते हैं, जैसे भारत आदिवासी समाज था और अंग्रेजों ने पहले पहले यहां शिक्षा का कार्यक्रम शुरू किया और संस्थाएं कायम कीं।

इस प्रकार उन्नीसवीं शती से एक अनुकरणधर्मी, आत्महीनताग्रस्त, अपने देश-समाज की परंपराओं से अपरिचित और कटा हुआ तथा मौलिक सर्जनशीलता से वंचित शिक्षित समाज हमारे देश में बनता गया है। और उसी शती से हमारे नेताओं के सामने यह चुनौती सबसे पहले आती रही है कि इस शिक्षित समाज को अपने देश ओर समाज की ओर उन्मुख किस प्रकार किया जाये। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज ओर कांग्रेस के प्रारंभिक नेतामें में यह चेतना तो पायी जाती है कि भारतीयों में स्वाभिमान जागना चाहिए और उन्हें स्वाधीनता की भावना से प्रेरित होना चाहिए, पर इन नेताओं के मन में पश्चिमी जीवन-पद्धति का इतना गहरा आकर्षण बना हुआ था कि वे अपने समाज को पश्चिमी अर्थात मुख्यतः अंग्रेजी ढंग पर चलाने के पक्ष में थे। थोड़े बहुत जिन भारतीय तत्वों को वे महत्वपूर्ण मानते थे, उन्हें पश्चिमी संस्कार के माध्यम से ही ग्रहण करने के पक्ष में थे। महत्व की बात यह है कि इन तत्वों का अनुसंधान इन नेताओं ने आत्मान्वेषण के रूप में नहीं किया था, वरन पश्चिमी (यूरोप के) विद्वानों के द्वारा स्वीकृति मिलने के कारण किया था।

आगे चल कर विवेकानंद, अरविंद, राधाकृष्णन् और रवींद्रनाथ जैसे नेताओं और विचारकों ने भारतीय तत्वों का अनुसंधान अपने-अपने ढंग से आत्मान्वेषण के स्तर पर किया है। परंतु पश्चिमी जीवन पद्धति-उतनी न सही, पर वहां की आधुनिक संस्कृति का प्रभाव इनके मानस पर भी सघन रूप से रहा है। परिणाम-स्वरूप भारत के धर्म, दर्शन, साधना, अध्यात्म और साहित्य के गौरव की खोज और उसकी स्थापना उन्होंने की है। परंतु भारतीय जन समाज के साथ अपना तादात्म्य वे नहीं कर सके, पश्चिमी संस्कार ने इन्हें जन-समाज में अपने आपको मिलाने से सदा रोका है। अतः इन सबके लिए भारत की सारी खोज अतीत की खोज रही है। और अपने-अपने ढंग से इन्होंने इस खोज का इस्तेमाल यूरोप के साथ बराबर का समझौता करने के उद्देश्य से किया है। इस समझौते की मनोवृत्ति से, समन्वयवाद से इतना ही लाभ हो सकता था कि हम पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले अपने हीन-भाव से एक सीमा तक मुक्त हो सकें। परंतु सब मिला कर भारतीय समाज रचना की आधुनिक प्रक्रिया को वे यूरोप के अनुकरण से मुक्त करके व्याख्यायित करने में असमर्थ रहे। उसके लिए अपने ढंग से स्वीकार या पलायन के रास्ते उन्होंने ग्रहण किये हैं।

उन्नीसवीं शती मे दयानंद का व्यक्तित्व अन्य नेताओं से भिन्न है। उसमें एक विशिष्ट तत्व परिलक्षित होता है, जो भारतीय बौद्धिक परिस्थिति को समझने के लिए बहुत दूर तक सहायक होता है। दयानंद ने पश्चिमी शिक्षा और संस्कार से प्रारंभ नहीं किया था, इन पश्चिमी तत्वों की चुनौती उन्हें क्रमशः अपने कार्यक्षेत्र के साथ मिली है। उन्होंने सबसे पहले अपने देश और समाज के यथार्थ का साक्षात्कार किया। सारे समाज की तत्कालीन परिस्थिति का उनको बड़ा व्यापक और गहरा अनुभव था। उसके बाद परंपरा के तत्वों का उन्होंने अनुसंधान किया, जिनके कारण भारतीय समाज पतनोन्मुखी होता गया, विजड़ित और रूढ़िग्रस्त होता गया। जिस समय वे अपने समाज की वर्तमान स्थिति के ऐतिहासिक कारणों का विवेचन-विश्लेषण कर रहे थे, उसी समय एक ओर उनका संपर्क पश्चिमी विचारधाराओं से हुआ और दूसरी ओर वे भारतीय समाज के उस ऐतिहासिक स्रोत तक पहुंच सके, जहां उनको भारतीय समाज रचना के शक्तिशाली तत्वों का साक्षात्कार हुआ। क्योंकि उन्होंने भारतीय व्यक्तित्व की खोज तत्कालीन भारतीय जन-समाज के बीच शुरू की थी, अतः वेद और उपनिषद की खोज मात्र उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। वे एक ऐसी समाज-रचना की कल्पना करते हैं, जो भारतीय व्यक्तित्व से विकसित होकर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात कर उनकी चुनौती का सही जवाब भी दे सके। बीसवीं शती में लोकमान्य तिलक की दृष्टि और पद्धति बहुत कुछ इसी आधार पर विकसित हुई है, पर राजनीति को ओर झुकाव के कारण उन्होंने कुछ ऐसे तत्वों का उपयोग व्यापक संदर्भ में करने का प्रयत्न किया था, जो आगे चल का भारतीय व्यापक संदर्भ से अलग हट कर क्षेत्रीय भावना को विकसित करने में इस्तेमाल किये जाने लगे। परंतु तिलक का राष्ट्रीय भावना का मूल आधार अपने जन समाज के साक्षात्कार में ही रहा है, इसमें संदेह नहीं।

गांधीजी की स्थिति इस दृष्टि से विशिष्ट रही है। उन्होंने एक ओर भारतीय जन-समाज का साक्षात्कार किया और दूसरी ओर यूरोप की आधुनिक संस्कृति को उसके मूल संदर्भों में ग्रहण किया है। उन्होंने यूरोप की संस्कृति की गत्यात्मक शक्ति को पहचाना, उसके मौलिक तत्वों को समझने का प्रयत्न किया और उसे अपने लिए चुनौती के रूप में स्वीकार किया। अपनी भारतीय भूमिका से वे भली भांति समझ सके थे कि यूरोप की आधुनिक संस्कृति का मात्र अनुकरण हमारे समाज को न मौलिक ढंग से रचनाशील कर सकता है और न वह हमारी प्रगति की वास्तविक दिशा हो सकती है। गांधीजी की दृष्टि बहुत सही थी, और उसका मूल कारण यह था कि वे भारतीय जन-मानस से जुड़े हुए थे। गांधीजी का व्यक्तित्व इसी कारण भारतीय जन-समाज को अधिक आकर्षित करता रहा।

पं. नेहरू गांधी के उत्तरधिकारी के रूप में भारतीय रंगमंच पर अवतरित हुए, पर उनकी दृष्टि और संस्कार गांधीजी से नितांत भिन्न थे। वस्तुतः पं. नेहरू भारतीय जन-समाज के लिए अजनबी ही रहे हैं। वे भारतीय मानस से अपना तादात्म्य कभी नहीं कर सके। समाज के प्रति उनकी सारी सहानुभूति बौद्धिक रही है और यूरोप की मानवतावादी भावना से वे प्रेरित रहे हैं। न कभी वे भारतीय समाज से अपनी अभिन्नता स्थपित कर सके और न यहां की परंपराओं का सही मूल्यांकन वे कर सके। अतः उन्होंने केवल ऐसे बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व किया है, जो यूरोप की आधुनिक संस्कृति के मोहजाल का बंदी रहा है और जो अपने समाज की सारी रचना-प्रक्रिया से नितांत अपरिचित है। अतः वह प्रगति और आधुनिकता का एक ही मार्ग देख पाता है, जो यूरोप, अब अमरीका को शामिल कर सकते हैं, के अनुकरण का है। नेहरू जी के आकर्षण का बहुत बड़ा रहस्य इस बौद्धिक वर्ग की मनोवृत्ति में देखा जा सकता है। स्वाधीन होने के बाद भारत में इस वर्ग की शक्ति का प्रभुत्व नेहरू जी के प्रभुत्व के साथ दिन पर दिन बढ़ता गया है। पं. नेहरू ने इस बौद्धिक वर्ग को पूरी तरह प्रोत्साहित किया और अपने लिए इसका इस्तेमाल किया। इस वर्ग ने अपनी शक्ति और प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने और स्थायी करने के लिए पं. नेहरू के व्यक्तित्व का इस्तेमाल किया।

यहां से डा. लोहिया का रोल शुरू होता है। गांधीजी का वास्तविक उत्तराधिकारी डा. लोहिया को माना जायेगा। डा. लोहिया ने भारतीय जन-समाज से तादात्म्य स्थापित किया था, भारतीय मानस को उन्होंने भली-भांति समझा था। यूरोप की सारी आधुनिक रचना-शक्ति, मूल्यवत्ता उनके मन में स्पष्ट थी। वे अपनी भूमि से यूरोप को चुनौती देते रहे हैं, और किसी भी देश-समाज के लिए मौलिक रचनाशीलता की दिशा यही है। अपने इस प्रयत्न में डा. लोहिया को जिस प्रकार पं. नेहरू के व्यक्तित्व से टकराना पड़ा है, उसी प्रकार इस बौद्धिक वर्ग के खोखलेपन, निरर्थकता, असर्जनशीलता को निरंतर उद्घाटित करना पड़ा है। इस संघर्ष में ध्यान देने पर दिखाई देता है कि डा. लोहिया जिस सीमा तक पं. नेहरू के व्यक्तित्व, दृष्टि और नीतियों की असंगतियों, विरोधाभासों, दिशाहीनताओं को उजागर करते गये हैं, उसी सीमा तक पं. नेहरू के पीछे चलनेवाले, या उनसे अपनी शक्ति पानेवाले बौद्धिक वर्ग का पर्दाफाश होता गया है। यह साफ होता गया कि यह वर्ग आत्मकेंद्रित है, इसे देश-समाज की कोई समझ नहीं है। यह एक ओर विश्वयारी करता है और दूसरी तरफ क्षेत्रीयता फैला कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। यह प्रगतिशीलता और आधुनिकता को यूरोप से उधार लेकर केवल अपने वर्ग का उल्लू सीधा कर रहा है।

अब अंत में यह देखना रह जाता है कि जो बौद्धिक वर्ग डा. लोहिया के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को सहन करने में असमर्थ है, उसमें उनके व्यक्तित्व का

आकर्षण किस सीमा तक विकसित हो सका। गांधी के व्यक्तित्व को अस्वीकार कर के भी सह पाना जरूरी भी था, और आसान भी। एक ओर तो स्वाधीनता संघर्ष के युग में गांधीजी की, जन शक्ति की अवहेलना कर पाना असंभव था। दूसरे उस युग में गांधी के व्यक्तित्व में आक्रामक पक्ष के अभाव कारण भी यह आसान था। पर डा. लोहिया को जिन संगठित शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना था, उन्हें देखते हुए डा. लोहिया का आक्रामक होना अनिवार्य था। वस्तुतः क्रांतिकारिता को आक्रामक होना ही होगा। नेहरू युग में निहित स्वार्थ का एक सशक्त वर्ग बन चुका था और बौद्धिक वर्ग उसके स्वार्थों के अनुकूल सिद्धांत चर्चा से लेकर योजनाएं बनाने के कार्य तक में लगा हुआ था। नेहरू युग की समस्त नीतियों का आधार यही रहा है। सारे देश और समाज को वास्तविक दिशा देने के लिए, नीतियों को लोकपरक आधार देने के लिए और योजनाओं को यथार्थ राष्ट्रीय संदर्भ में नियोजित करने के लिए डा. लोहिया के सामने दूसरा विकल्प नहीं था।

उन्होंने चुनौती स्वीकार की, सरकारी नीतियों के खोखलेपन को प्रकट करने का अथक प्रयत्न किया। क्या अर्थनीति, क्या विदेशनीति, क्या धर्मनीति, क्या जातिनीति, क्या भाषानीति सभी में निहित बेईमानी, दुहरेपन और विरोधाभास का डट कर पर्दाफाश उन्होंने किया। इसके साथ भारतीय बौद्धिक वर्ग का खोखलापन भी उजागर हुआ। उनकी आधुनिकता, प्रगतिशीलता और अंतर्राष्ट्रीयता आदि की अर्थहीनता स्पष्ट होने लगी। अब इस वर्ग के जो लोग अपना निहित स्वार्थ निश्चित कर चुके थे, और जिनका पक्ष भी स्पष्ट हो चुका था, वे लोग डा. लोहिया से चिढ़े, तो स्वाभाविक है। पर बौद्धिकों की एक नयी पीढ़ी ने डा. लोहिया का दृष्टिकोण समझा और समाज रचना की सही दिशा का बोध उनके माध्यम से किया। अतः उसके मन में उनके व्यक्तित्व का आकर्षण विशेष रूप से रहा है।

संभवतः हिंदी भाषी क्षेत्रों में इस बौद्धिक परिवर्तन को अधिक मौका मिला है। उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों के साथ सांस्कृतिक कारण भी हैं। संकेत रूप में कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शती में दयानंद का प्रभाव हिंदी क्षेत्र में सर्वाधिक पड़ा था, और बीसवीं शती में गांधीजी का प्रभाव क्षेत्र सर्वाधिक यही रहा है। इसी क्रम में डा. लोहिया को भी लिया जा सकता है। अर्थात अंतर्राष्ट्रीयता से क्षेत्रीय संकीर्णता जोड़ देने की प्रवृत्ति इस क्षेत्र के बाहर के बौद्धिकों में अधिक देखी जा सकती है, जबकि इस क्षेत्र में किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज के साथ बौद्धिक प्रयत्न जुड़े रहे हैं। पर जैसा शुरू में ही कहा गया है, यह बात आंशिक रूप से एक तथ्य पर प्रकाश डालने की दृष्टि से ही कही जा सकती है।

●

लघुतम मनुष्य की राजनीति

• श्रीपाद केलकर

लघु या यों कहिए लघुतम मनुष्य के हित में राजनीति ही समाजवादी राजनीति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि जिस देश में लघु मनुष्य को अपने ही अस्तित्व का बोध नहीं है उस देश में लघु मनुष्य की राजनीति की बात करना निरा सपना है। यह कहना अपनी जगह पर सही भी दिखता है। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि इस सपने को देखना ही वास्तव में सही राजनीति–समाजवादी राजनीति है।

लोहिया की महानता, उनका द्रष्टापन इस बात में था कि उन्होंने इस सपने को देखा, इसकी वास्तविकता को पहचाना। न केवल देखा और पहचाना बल्कि उस सपने को वास्तविक रूप देने की उम्मीद रखी, अपने जीवन के अंतिम एक दशक में अपनी पूरी प्रतिभा और शक्ति के साथ उसके लिए अथक प्रयास भी किये। उस भूले बिसरे मनुष्य की याद देश को दिलायी। उसको उसके अस्तित्व का बोध करवाया। अपनी महान शक्ति को पहचानने की सीख दी। बाबूराव रिक्शावाला की वकालत, निहत्थी जनता पर गोली चलाने का विरोध, स्त्री–शूद्र–हरिजन–गरीब मुसलमान आदि को ६० प्रतिशत स्थान दिलवाने की नीति, लोकसभा में तीन आने बनाम पंद्रह आने की बहस, मनुष्यचालित रिक्शा, अंग्रेजी हटाना, आमदनी व खर्च की अधिकतम सीमा बांधना—ये सब चीजें किस बात की प्रमाण है ?

सारी दुनिया में इस युग में, राजनीति का केंद्र बिंदु जनता रही है, हमारे देश में भी। साधारण जनता की, आम लोगों की राजनीति, यह एक साधारण, सर्वमान्य सिद्धांत माना गया है। लेकिन हमारे देश में क्या इस संज्ञा से कोई ठोस अर्थ निकलता है ? इस देश में जनता या 'साधारण जनता' जैसी भ्रमपूर्ण व

निर्गुण, निराकार संज्ञा शायद और कोई नहीं है। जिस देश की 'साधारण जनता' जाति, भाषा, सत्ता व संपत्ति के आधार पर ऊंच-नीच के सैकड़ों स्तरों पर बुरी तरह बंटी हुई है, उस देश में इस संज्ञा का कोई निश्चित अर्थ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े दफ्तरों में ३०० से लेकर ५०० रुपये तक प्रति मास तनख्वाह पाने वाले क्लर्क, जिनकी आमदनी व व्यय प्रतिमाह १०-१५ रुपये से भी कम है वे देहाती गरीब, बंबई जैसे नगरों के दफ्तरों में, होटलों में, कालोनियों में, रेलगाड़ियों में, सिनेमाघरों में अपने स्पृश्य भाइयों के साथ आम तौर पर बिना रुकावट उठने-बैठने, खाने-पीने वाले शहरी अछूत, देहातों में अपनी अलग बस्तियों में बहिष्कृत जीवन बिताने वाले तथा छुआछूत के क्रूर शिकार बने हुए देहाती अछूत—ये सब क्या एक ही 'साधारण जनता' की संज्ञा से पुकारे जा सकते हैं? अंग्रेजी की सहायता से ऊंचे पदों पर आसीन विशिष्ट लोग तथा अंग्रेजी का ज्ञान न होने के कारण अपाहिज व तुच्छ जीवन बिताने वाले करोड़ों लोग क्या एक ही 'साधारण जनता' के हिस्से हैं? हिंदुस्तान में जनता के किसी भी दो भागों में जीवन के सभी क्षेत्रों में जितना अंतर है उतना दुनिया के अन्य देशों में शायद नहीं है। सच कहा जाये तो हिंदुस्तान में सही माने में कोई एकरस जनसमाज नहीं हैं। यहां मौजूद है केवल एक भीड़, विशाल भीड़—विभिन्न दिशाओं में दौड़ने वाली। विभिन्न सामाजिक कारणों से एकत्रित हुए हजारों गुटों की भीड़। हिंदुस्तानी समाज का कोई अपना व समान व्यक्तित्व है ही नहीं।

'जनसाधारण', 'साधारण लोग' जैसे गलत शब्द हमारे देश के शासकों, राजनीतिक विचारकों और पढ़े-लिखे लोगों के दिमागों में इस तरह पक्के बैठ गये है कि सारे देश का राजनीतिक, सामाजिक, व आर्थिक चिंतन ही बिगड़ गया हैं। जिस मोटर कार की कीमत कई हजार रुपये से कम नहीं होगी उस कार को 'जनता कार' कहा जाता है। जिस मकान का किराया प्रतिमाह १५-२० रुपये होगा उस तरह के मकान झोंपड़ीवालों को (यानी जन साधारण को) बसाने के लिए निर्माण किये जाते हैं। जिस रेलगाड़ी में तीन सौ रुपये किराया देकर सफर हो सकता है वह 'राजधानी एक्सप्रेस' बंबई से दिल्ली जनता की खातिर ही तो दौड़ायी जाती है! पढ़े-लिखे लोगों का तो क्या कहना? वे अपने आसपास के सीमित अनुभवों के सहारे ही साधारण जनता को लेकर इतने सहज लहजे में बात करते हैं कि हैरान होना पड़ता है। जब तब हम सुनते हैं—"आजकल हर घर में रेडियो बजता है," "किसानों को आजकल क्या कमी है? अनाज के अच्छे दाम मिलते हैं। खेती में अच्छी खासी मिल्कियत है", "अब तो स्त्रियों का ही राज है। इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री जो हैं," "शिक्षा का प्रसार काफी हो रहा है। किसानों के, आदिवासियों के, अछूतों के लड़के, लड़कियों से

स्कूल कालेज भरे हुए हैं।" आदि–आदि। क्या यह सब सच है? देश के जनसाधारण के सभी तबकों के बारे में सही है?

असल में हिंदुस्तान का हर आदमी अपने ही वर्ग के या स्तर के आदमियों को पूरा समाज, जनसाधारण मानता है। जब कोई निम्न मध्यम श्रेणी का व्यक्ति यह कहता है कि "हर घर में आजकल रेडियो बजता है" तो उसका मतलब यह होता है कि निम्न मध्यम श्रेणी के सभी घरों में आजकल रेडियो बजता है। (असल में यह भी सच नहीं है।) जब कोई शहर में रहने वाला आदमी कहता है कि 'अब छुआछूत कहां रह गयी है?' तब उसका अर्थ इतना ही है कि उस जैसे शहरवासियों के अंदर छुआछूत नहीं रह गयी है (और यह भी पूर्ण सत्य नहीं है)। जब कोई मध्यमवर्गीय पढ़ा–लिखा कहता है कि 'आजकल किसानों की हालत बहुत अच्छी है' तो उसका मतलब है कि मध्यम श्रेणी के किसानों को अच्छा पैसा मिलता है (यह भी अधूरा सत्य है।)

इस तरह के चिंतन में लघु और लघुतम मनुष्य की कोई जगह नहीं है। इस सोच में उन ३५ करोड़ लोगों को, जिनकी आमदनी सरकारी हिसाब से दरिद्रता के स्तर से भी नीची है, स्थान नहीं है। देश के ७० प्रतिशत निरक्षरों को स्थान नहीं है। देहातों और शहरों में रहने वाले उन करोड़ों लड़के-लड़कियों को जगह नहीं है, जो स्कूल–कालेजों में आर्थिक दुर्दशा के कारण जा ही नहीं सकते। उन करोड़ों स्त्रियों को स्थान नहीं है, जो हर रोज अपने पति से मार खाती हैं, अपने पति को और बच्चों को पेटभर खिलाने के लिए स्वयं अधभूखी रहती हैं। देहातों में पशुवत और महारोगियों का जीवन बिताने वाले ४–५ करोड़ अछूतों को तथा हीन जातियों के लोगों को स्थान नहीं है।

इस गलत सोच का एक और परिणाम हुआ है। हिंदुस्तान का हर मनुष्य जब अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में, अपनी सुख–सुविधाओं के बारे में सोचता है तब अपनी स्थिति की तुलना अपने ऊपर के तबके के आदमी से करता है, न कि अपने नीचे के तबके वाले से। वह कभी नहीं सोचता कि अपने से नीचे के वर्ग के मनुष्य से उसकी स्थिति अच्छी है। वह नहीं सोचता कि करोड़ों शहरी व ग्रामीण गरीबों को अधपेट रहना पड़ता है। उनकी भी स्थिति हमारे साथ सुधरनी चाहिए। दफ्तर का ३–४ सौ रुपया तनख्वाह पाने वाला क्लर्क अपने बड़े अफसर की सुख-सुविधा प्राप्त करने की इच्छा रखता है। बंबई के परेल लालबाग में रहने वाला तथा कारखानों में काम करने वाला साधारण मजदूर चाहता है कि हमें शिवाजी पार्क पर रहने वाले मध्यम श्रेणी के बाबुओं की आर्थिक स्थिति प्राप्त हो। इनमें से कोई भी यह नहीं सोचता कि झुग्गियों में या बेघर

अवस्था में रहने वाले बंबई के २५–३० लाख लोग क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, किस तरह रहते हैं !

और मजे की बात यह है कि ये सभी लोग जनसाधारण की राजनीति के या किसी न किसी मार्का समाजवाद के हामी भी हैं !

समाजवादी राजनीति वही है जो लघु व लघुतम मनुष्यों के विशाल समूह को अपने सोच तथा कार्यकलापों का केंद्रबिंदु बनाती है। लेकिन समाजवादियों ने भी गलती से उस निर्गुण, निराकार 'जन साधारण' शब्द को गले लगाकर अपने चिंतन तथा कर्म का आधार माना। इसी वजह से आज समाजवादी आंदोलन लगभग धराशायी हो गया है। इससे समाजवादियों को बचाने की लोहिया ने ही केवल कोशिश की। उन्होंने एक नया दर्शन, नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसमें लघु और लघुतम मनुष्य को सर्वोपरि स्थान है। 'जन साधारण', 'आम लोग' जैसे निरर्थक शब्दों को उन्होंने ठोस अर्थ प्रदान किया। और उसके साथ–साथ लघु मनुष्य को अपनी लघुता नष्ट करने का कार्यक्रम दिया।

इस संदर्भ में लोहिया की जाति तोड़ो नीति सबसे अधिक अहमियत रखती है। हिंदुस्तान में मनुष्य केवल आर्थिक दरिद्रता के कारण ही लघु नहीं है। निर्मम और विषमतापूर्ण जाति–व्यवस्था उसका कारण है। शायद सबसे बड़ा। इस सत्य को लोहिया के सिवा किसी दूसरे समाजवादी, साम्यवादी या 'प्रगतिशील' विचारक ने कभी नहीं पहचाना। जाति ने यहां मनुष्य को लघु से लघुतम बनाया है। जाति ने उसको गरीब बनाया है. हीन बनाया है, अपाहिज बनाया है, अस्पृश्य बनाया है। अपने देश का लघु–लघुतम मनुष्य आखिर कौन है ? वही न जो समाज के सभी क्षेत्रों में सत्ता, सुविधा व संपन्नता से वंचित हैं ? वही न जो सामाजिक तथा आर्थिक विषमता के शिकार हैं ? और ये सब कौन हैं ? वही न जो पिछड़े, अछूत, हीन जातियों के कहे जाते हैं ? लोहिया का आग्रह था कि जब तक इन लोगों को समाज के सभी क्षेत्रों में—व्यापार, सेना, शासन, शिक्षा आदि—विशेष सुविधाएं, अपने विकास का विशेष अवसर नहीं दिया जाता तब तक इन लोगों की लघुता कभी नष्ट नहीं हो सकती। और जब तक यह नहीं होगा समाज के परिवर्तन में उनका कोई भी योगदान नहीं होगा। और उनके सहयोग के बिना देश में आमूल परिवर्तन असंभव है। लोकतंत्र तथा समाजवाद निरे नारे ही रहेंगे।

लोहिया का अंग्रेजी हटाने तथा लोकभाषाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी लघु मनुष्य को अपनी जबान लौटा देने का प्रयास था। शासन और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रो में लघु मनुष्य जीभ होते हुए भी गूंगा है। इन क्षेत्रों में उसका कोई प्रभावकारी स्थान नही है। अंग्रेजी ने लघु मनुष्य को लघुतम बनाया है। उसकी विशाल कार्यशक्ति का तभी उपयोग किया जा सकता है जब उसको उसकी जीभ, उसकी

अपनी भाषा वापस दी जायेगी। शासन और शिक्षा के क्षेत्र में तथा राजनीति में हिंदुस्तान का लघु मनुष्य तभी ऊंचा उठेगा जब इन क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से लघु मनुष्य की अपनी भाषा या भाषाओं का ही इस्तेमाल होगा। लोहिया के पहले समाजवादियों या साम्यवादियों में से किसी ने इस बात को नहीं पहचाना। कारण यही था कि उनके चिंतन का दायरा उन्होंने कभी लघु-लघुतम मनुष्य तक नहीं फैलाया।

हिंदुस्तान में स्त्री से अधिक लघु या लघुतर मनुष्य और कोई नहीं हो सकता। स्त्री किसी भी समाज की, वर्ग की या जाति की हो, वह पुरुष के मुकाबले सभी क्षेत्रों में लघु है, लघु रखी गयी है। वह पीड़ित है। वह विषमता और अन्याय की शिकार है। इस कारण ही लोहिया ने देश के ८० प्रतिशत लघु व लघुतम मनुष्यों में सभी वर्ग की स्त्रियों का समावेश किया और उनको विशेष सुविधाएं देने विशेष अवसर देने की मांग की।

फिर लोहिया का व्यक्ति की आमदनी तथा खर्च का सीमा लगाने का प्रस्ताव। यह सीमा प्रतिव्यक्ति प्रतिमास १५०० रुपये से अधिक नहीं होगी। सच कहा जाये तो इस सीमा को और भी घटाया जाना जरूरी है। प्रति व्यक्ति की नहीं, प्रति परिवार की आमदनी तथा खर्च की सीमा बांधनी चाहिए। तभी जाकर लघु और बड़े मनुष्यों के बीच की खाई कुछेक अंशों में कम होगी। तभी लघु मनुष्य के विकास के लिए अधिक धनराशि प्राप्त होगी। खर्च और आमदनी की सीमा बांधने की यह लोहिया-नीति लघु मनुष्य के हितों में ही सोची गयी थी।

लोहिया के संपूर्ण चिंतन का केंद्र लघु-लघुतम मनुष्य था, सबसे पीड़ित सबसे दुखी मनुष्य था, इसके और कई प्रमाण उपलब्ध हैं। बाबूराव रिक्षावाले की वकालत क्यों की? न्यायदान के क्षेत्र में फैली हुई विषमता के खत्म करने के लिए। लघु-बड़े मनुष्य को एक ही न्याय दिलवाने के लिए। हिंदुस्तानी फौजदारी कानून की १०९ दफा हटाने की लोहिया ने मांग की। इसलिए कि दफा का डंडा आखिर गरीब आदमी पर, लघु मनुष्य पर ही अक्सर पड़ता है। बिना किसी तरह की पूछताछ के लघु, निरपराध मनुष्य को जेल में बंद रखा जाता है। फिर लोहिया द्वारा उठायी गयी भुखमरी से मृत्यु की, 'भुखमरी किसको कहा जाये' की बहस! भुखमरी से मरता है सबसे गरीब, सबसे लघु मनुष्य। उसकी कौन परवाह करता है? लेकिन लोहिया ने यह प्रश्न उठाया। भुखमरी की परिभाषा करने को सरकार को मजबूर करने का प्रयत्न किया। अपने कंधों पर मनुष्य जाति की क्रूरता ढोने वाले रिक्षाचालकों, उस अर्धपशु-अर्धमानव को तो लोहिय ने केवल इस देश का ही नहीं, पूरे एशिया की दरिद्रता का, लघुतम मानवता का चिन्ह माना था।

गांधी के बाद हिंदुस्तान की राजनीति में लोहिया लघुतम मनुष्य की सबसे शक्तिशाली आवाज थे। अब वह नहीं रही। लेकिन लघुतम मनुष्य की राजनीति कभी नहीं मरेगी। क्षीण हो सकती है। उसको फिर से बलवती बनाने का काम उन्हीं लोगों का है, जो लोहिया के चेले होने का दम भरते हैं। मगर उन लोगों से बहुत ज्यादा आशा करना व्यर्थ है। आखिर यह काम लघु मनुष्यों के उसी विशाल समाज का है और वही इसको पूरा भी कर सकता है।

•

योजना और सगुण समाजवाद

● हीरालाल जैन

अंग्रेजों की गुलामी के जमाने में हिंदुस्तान के लोग साम्राज्यशाही, पूंजीशाही एवं सामंतशाही तिगड्डे के भयंकर शोषण के शिकार थे। सुविधा प्राप्त एवं सुविधाहीन लोगों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति आकाश पाताल जैसी भारी विषमता व्याप्त थी। मुट्ठीभर लखपति-करोड़पति, राजा-जागीरदार एवं बड़े अफसर-शाह जहां एक ओर जनता के गाढ़े पसीने की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते थे वहीं दूसरी ओर खून पसीना एक करनेवाले करोड़ों लोग पशु से भी गयी बीती दुख, दारिद्रय एवं बेइज्जती की जिंदगी जीने को मजबूर थे। अतः सामान्य जनता के दिमाग में आजादी का मतलब अंग्रेजों की दासता से मुक्ति के साथ ही शोषण एवं अभाव से मुक्त मानवोचित सम्मान की जिंदगी जीने का अवसर प्राप्त करना भी था। गांधीजी के 'रामराज' की कल्पना के पीछे यही भावना छिपी हुई थी और स्वतंत्रता की प्रथम वेला में दुखी आंखों के आंसू दूर करने की बात करके जवाहरलाल नेहरू ने भी कुछ इसी तरह के उद्‌गार प्रकट किये थे।

स्वतंत्र भारत की एकछत्र सत्ता कांग्रेस के हाथ में आयी और तब से देश में कांग्रेस का ही एकछत्र राज चलता आ रहा है। कांग्रेस संगठन एवं सरकार के निर्द्वंद्व नेता के रूप में जवाहरलाल नेहरू मुतवातिर १७ साल तक देश के प्रधानमंत्री रहे। उन्होंने देश में लोक कल्याणकारी राज, सहकारी समतावादी समाज या समाजवादी ढंग का समाज कायम करने की वक्त-वक्त पर घोषणाएं कीं तथा इनको मूर्त रूप देने के लिए सन १९५१ से पंचवर्षीय योजनाएं भी शुरू कीं। सन ६१ तक दस वर्ष में पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में देशी-विदेशी साधन, कर्ज व सहायता से प्राप्त अरबों रुपये खर्च हुए, पर क्या हम गरीबी के गहरे गर्त में पड़े करोड़ों लोगों के अंधेरे जीवन में कुछ भी प्रकाश पहुंचाने में सफल हो सके? और क्या लाखों-लाख अभावग्रस्त, दुखी सामान्य जनों के आंसू पोंछने की दिशा में अपना एक भी कदम आगे बढ़ा सके? उत्तर साफ है - 'नहीं'। इसको सिद्ध करने

के लिए विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है, डॉ. राममनोहर लोहिया की अगस्त १९६३ में लोकसभा में 'तीन आने बनाम पंद्रह आने' वाली बहस ही काफी है, जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि देश की साठ प्रतिशत जनता यानी २७ करोड़ लोगों की प्रतिव्यक्ति दैनिक आमदनी का औसत मात्र बीस पैसे है। नेहरूजी के तथाकथित समाजवादी आयोजन के खोखलेपन को इतने सटीक ढंग से उजागर करने के पीछे डॉ. लोहिया की एक ही मंशा थी कि योजना के ढर्रे, तौर-तरीकों और प्राथमिकताओं में आमूल चूल परिवर्तन किया जाये और उनको अपनी कथनी के अनुरूप ढाला जाये। लेकिन डॉ. लोहिया की चेतावनी नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गयी और कांग्रेसी सरकार की योजना की गाड़ी अपने पुराने ढर्रे पर ही चलती रही और आज भी चल रही है। सन ६४ में नेहरूजी के निधन के बाद डेढ़ साल तक लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री रहे और उनके बाद सन ६६ से श्रीमती इंदिरा गांधी लगातार प्रधानमंत्री चली आ रही हैं। कांग्रेस की तेजी से गिरती साख एवं लोकप्रियता को बचाने के लिए उन्होंने न सिर्फ समाजवाद के नारों की बुलंदगी तेज कर दी, वरन् बैंक राष्ट्रीयकरण, राजाओं के विशेषाधिकार एवं प्रिवी पर्स की समाप्ति जैसे समाजवादी टोटके भी किये। वे सन ७१ में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव करा कर कांग्रेस के लिए प्रचंड बहुमत प्राप्त करने में भी सफल हो गयीं। इस बीच मार्च ६६ में तीसरी पंचवर्षीय योजना पूरी हो गयी। मार्च ६९ तक तीन वार्षिक योजनाएं चलीं तथा अप्रैल ६९ से चौथी पंचवर्षीय योजना शुरू हो गयी, जो डेढ़ साल बाद पूरी हो जायेगी। योजना व्यय की राशि भी उत्तरोत्तर बढ़ कर अरबों से खरबों हो गयी है।

अब देखना यह है कि खरबों रुपया खर्च करके इन योजनाओं के चलते हमारी क्या उपलब्धि रही। क्या हम आजादी के २५ वर्षों में दुखियों के आंसू पोंछने के हमारे मूल लक्ष्य की ओर थोड़ा भी आगे बढ़ सके?

हाल ही में स्वतंत्रता की रजत जयंती के अवसर पर २५ वर्षों में सरकार की उपलब्धियों का बहुत ढिंढोरा पीटा गया है कि इतने स्कूल व कालेज खुल गये, इतनी छात्र-छात्राओं की संख्या बढ़ गयी, साक्षरता का प्रतिशत १५ से बढ़ कर ३० हो गया, इतने गांवों में बिजली लग गयी, इतनी सड़कें बन गयीं, इतने कारखाने लग गये. इतने डाक्टर बढ़ गये, इतने अस्पताल खुल गये, आदि-आदि।

जब हजारों करोड़ रुपये योजनाओं पर खर्च हुए हैं, तो काम तो कुछ न कुछ होगा ही। अस्पताल, कालेज व डाकखाने भी खुलेंगे; रेलवे लाइन तथा सड़कें भी बनेंगी; आलीशान होटल, चालीस मंजिली इमारतें और बड़े-बड़े कल-कारखानों का भी निर्माण होगा ही। किंतु ये सब काम तो अंग्रेजों के जमाने में भी हुए

थे, शायद कम खर्च में आज से अच्छी किस्म के। लेकिन हमने इनके लिए अंग्रेजी शासन को सराहा नहीं, क्योंकि इन विकास कार्यों का ढांचा करोड़ों गरीब लोगों का शोषण तथा लूट करके मुट्ठी भर संपन्न लोगों को और संपन्न करने की पूंजीवादी सामंतवादी परिपाटी पर खड़ा हुआ था। क्या आजादी के बाद कांग्रेसी सरकार ने इस दूषित परिपाटी को, जिसे आजादी के पहले कांग्रेस पानी पी-पी कर दिन रात कोसा करती थी, बदला या उसमें कोई सुधार ही कर पायी ?

शोषण–मूलक परिपाटी में बदलाव या सुधार के बजाय हालत बद से बदतर ही हुई है। उल्टी दिशा में हमारी सरकार ने कैसी शानदार तरक्की की है उसकी कुछ बानगी देखिए—

१. रोजगार–पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में बेरोजगारों की संख्या ५३ लाख थी, जिसके चौथी योजना के अंत में ४ करोड़ तक पहुंच जाने की आशंका है। इसमें अर्द्ध बेकारों की संख्या भी शामिल करें तो यह संख्या ८ से १० करोड़ तक पहुंचेगी। इस भयंकर बेकारी का ही परिणाम है कि लाखों लोगों को जानवर बन कर रिक्शा खींचने को मजबूर होना पड़ रहा है और लाखों बहिनों को पापी पेट की ज्वाला शांत करने के लिए अपनी अस्मत भी बेचनी पड़ रही है। दिनोंदिन बढ़ती गुंडागर्दी, राहजनी, चोरी, डकैती और भिखमंगों की संख्या भी तो इसी भीषण बेकारी का परिणाम है।

२. महंगाई–पिछले २५ वर्षों में आवश्यकता की वस्तुओं के दाम करीब चार गुना होग ये हैं। ५० करोड़ देशवासी किस प्रकार अपने गुजारे की गाड़ी खींच पा रहे हैं, यह केवल कयास करने की ही बात है, कलम के बस की बात नहीं।

३. कपड़ा–जब रोटी–रोजी का ही ठीक से जुगाड़ नहीं हो पा रहा हो, तो कपड़े की बात करना जले पर नमक छिड़कने के समान है। करोड़ों कोपीनधारी लोग–लुगाई व बच्चे क्या इस मामले में देश की दयनीय स्थिति को प्रकट करने के लिए काफी नहीं हैं ?

४. मकान–आज देश में चौथाई आबादी फुटपाथ पर खुले आसमान के नीचे या झुग्गी–झोंपड़ी में रहती है और चौथाई नरक के समान गंदी बस्तियों में। तभी तो लू, शीत, बाढ़ आदि के कारण हर साल सैकड़ों लोग बिना अखबार की सुर्खी पाये 'रामनाम सत्त' हो जाते हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार देश में आज ८ करोड़ मकानों की कमी है यानी कि करीब ४० करोड़ लोगों के लिए मकानों की समुचित व्यवस्था नहीं है।

५. चिकित्सा–चिकित्सा सेवा का विस्तार होने के बावजूद दारिद्रय की सीमा के नीचे जीवन बसर करने वाली ७० प्रतिशत से अधिक जनता अपनी भयंकर गरीबी के कारण इसका लाभ उठाने में असमर्थ है।

६. शिक्षा–हालांकि २५ वर्षों में साक्षरता का प्रतिशत १५ से बढ़ कर ३० प्रतिशत के करीब हो गया, पर हकीकत यह है कि निरक्षर लोगों की संख्या कम होने के बजाय कई करोड़ बढ़ गयी। आज देश में ७० फी सदी से अधिक यानी करीब ४० करोड़ लोग निपट अंगूठा छाप हैं। साक्षरता योजना इसी रफ्तार से चली तो आप बखूबी अंदाज लगा सकते हैं कि देश की समस्त जनता को साक्षर करने में कितनी सदियों की दरकार होगी।

७. पानी–आज भी देश में एक लाख से अधिक गांवों में पीने के लिए साफ पानी तक की भी व्यवस्था नहीं हो पायी है.

८. सिंचाई– अभी तक खेती योग्य जमीन के मुश्किल से चौथाई हिस्से में सिंचाई की व्यवस्था हो पायी है। इसका मतलब हुआ कि हमारी खेती और उस पर निर्भर हमारी आर्थिक व्यवस्था एवं प्रगति पूर्ण रूप से इंद्र भगवान की कृपा पर निर्भर है। इसी से जुड़ा बाढ़ का प्रश्न है। बाढ़ नियंत्रण के कार्य में भी कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पायी है, और यही कारण है कि हर साल देश के बड़े भूभागों में अकाल व बाढ़ के झटके वर्षों की मेहनत व कमाई को बर्बाद करके लोगों की हालत पहले से भी खस्ता बना देते हैं।

ऐसी बात नहीं है कि योजनाओं की कोई उपलब्धि ही नहीं रही हो। उपलब्धियां रही हैं। उदाहरण के लिए गैरबराबरी बढ़ाने और भ्रष्टाचार के मामले में सरकारी आयोजन ने पिछले सारे रेकार्ड तोड़ दिये हैं।

योजनाओं का लक्ष्य था करोड़ों दबे पिसे एवं शोषित पीड़ित लोगों को ऊंचा उठाना और उनके लिये रोटी, कपड़ा, मकान, दवा एवं शिक्षा जैसी जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की व्यवस्था करना। लेकिन हुआ इसका बिल्कुल उल्टा। एक तरफ अमीर और अमीर हो गये। जो लखपति थे वे करोड़पति हो गये और जो करोड़पति थे वे अरबपति। उदाहरण के रूप में टाटा व बिड़ला व्यापारिक प्रतिष्ठानों की आजादी के समय क्रमशः ४० व २५ करोड़ की हैसियत थी, वह इन २५ सालों में बढ़ कर आज क्रमशः ८०० व ७५० करोड़ रुपयों के करीब हो गयी। सिरे के बीस व्यापारिक प्रतिष्ठान देश की संपूर्ण अर्थव्यवस्था पर अजगर की तरह कुंडली मार कर बैठे हुए हैं। कोई एक–डेढ़ करोड़ लोगों को सुविधा प्राप्त वर्ग में

प्रवेश मिल गया, जिनको बंगला, कार, टेलीविजन, रेडियो, टेलीफोन आदि की सुविधा प्राप्त है और जो सुखी कहे जा सकते हैं। दूसरी तरफ करोड़ों गरीब लोग और गरीब हो गये। सन १९६१ में देश में दारिद्र्य की सीमा अर्थात प्रति व्यक्ति २० रु. माहवार खर्च करने की क्षमता से नीचे जीवनयापन करनेवालों की संख्या करीब १७ करोड़ थी। हरित क्रांति और औद्योगिक विकास की शानदार उपलब्धियों के शोर शराबे के बावजूद सन ६८–६९ में यह संख्या बढ़ कर करीब ३० करोड़ हो गयी और इस अवधि में द्रुत-गति से बढ़ी बेकारी व महंगाई को देखते हुए आज इस संख्या के ४० करोड़ हो जाने में जरा भी शक की गुंजाइश नहीं रहती।

कितनी भयंकर विषमता! एक तरफ देश की सत्तर फी सदी आबादी की आठ आना रोज भी खर्च करने की क्षमता नहीं, तो दूसरी तरफ राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री जैसे सुविधा प्राप्त व्यक्तियों की शान-शौकत और मौज-शौक पर हजारों रुपये रोज का खर्चा! एक तरफ करोड़ों लोगों की एक वक्त भी पेट की भरती करने के लिए सत्तू तक सुलभ नहीं, तो दूसरी तरफ कुछ लोगों के केवल एक टाइम के लंच का खर्चा सैकडों रुपये!

भ्रष्टाचार का मामला तो और भी दिल दहलाने वाला है। रिश्वत, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट, और कामचोरी जैसे विभिन्न रूपों में भ्रष्टाचार व्यक्ति, समाज, राजनीति और प्रशासन के अंग–अंग में कोढ़ की तरह फैल गया है। आज तो यह भगवान से भी अधिक शक्तिवान एवं सर्वव्यापी है। मानव एवं सामाजिक मूल्यों की कोई प्रतिष्ठा नहीं रह गयी है। सैद्धांतिक निष्ठा और सदाचार अतीत की बातें हो गयी हैं। भ्रष्टाचार के संक्रामक रूप धारण करने का भी कारण है। अब यह ऊपर से नीचे चलने लगा है। जब गंगोत्री में ही कीचड़ होगा तो गंदगी संगम व गंगासागर तक पहुंचेगी ही! आज किसी योजना के लिए निर्धारित रकम के आधे भाग का भी यदि ठीक उपयोग हो जाये तो इसे जनता का सौभाग्य ही समझना चाहिए।

देश में चल रही योजनाओं के इन भयानक नतीजों को डॉ. लोहिया ने बहुत पहले देख लिया था। जिन दिनों दूसरे कई विरोधी दल और उनके नेता भी सरकारी योजनाओं की तारीफों के पुल बांधते थे, तभी डॉ. लोहिया ने कहा कि योजना की मूल दृष्टि ही गलत है। उन्होंने देश को बताया कि इन योजना ओं के सहारे देश के करोड़ों गरीब लोगों की जिंदगी नहीं संवर सकती। हां, हर पांचवें साल देश के एक–डेढ़ फी सदी बड़े लोगों का जीवनस्तर उन्नत होता जायेगा। अपनी

पैनी शैली में डॉ. लोहिया ने कहा था कि यह तो करोड़ों लोगों के दलदल में कुछ लाख कमलों की खेती करने की योजना है। आज भी हालत वही है। मुट्ठीभर कमलों की खेती से सरकार को विदेशियों के सर्टीफिकेट चाहे, जितने मिल जायें या प्रशस्ति गायकों को इंदिरा गांधी की आरती उतारने का अच्छा मसाला मिल जाये, पर यह स्पष्ट है कि ५–१० लाख लोगों को सालवार ऊंचा उठाने वाली इस ढंग की योजनाएं गरीबी के पाताल में कीड़ों की तरह कुलबुला रहे करोड़ों इंसानों को कई सौ वर्षों में भी ऊपर उठाने में हर्गिज कामयाब नहीं हो सकेंगी।

आज जब देश में शासकों की ओर से सबसे ज्यादा जोर से समाजवाद का ढोल पीटा जा रहा है, तब यह आवश्यक है कि हम एक–दो बातों को सफाई के साथ समझ लें। सबसे पहले तो यह कि दुनिया में हरेक उसूल के दो रूप होते हैं, एक निर्गुण और दूसरा सगुण। जैसे हम समाजवाद या बराबरी हासिल करने की रट लगाते रहें, लेकिन बराबरी का मतलब जब तक हमारे दिमाग में साफ नहीं होगा तब तक कुछ नतीजा नहीं निकलने वाला। अतः यदि कुछ करना है तो बराबरी या समाजवाद के सिद्धांत को देश और काल के मुताबिक एक ठोस जामा देना जरूरी हैं। दूसरी बात यह कि समाजवाद का अर्थ केवल बराबरी ही नहीं है, उसके साथ संपन्नता भी जुड़ी हुई है। डॉ. लोहिया ने इसी संदर्भ में समाजवाद को बहुत ही सुंदर ढंग से परिभाषित किया कि समता द्वारा संपन्नता और संपन्नता द्वारा समता।

समता और संपन्नता के इस सपने को मूर्त रूप देने के लिए डॉ. लोहिया ने बहुत ही मौलिक और सूझबूझ भरे विचार देश के सामने रखे। बदकिस्मती से वे विदेशी योजनाओं की बंदर नकल की अंधी दौड़ में बिल्कुल उपेक्षित कर दिये गये। डॉ. लोहिया ने देश के आर्थिक विकास के लिए जरूरी पूंजी के निर्माण की कमी और श्रम की बहुतायत को बहुत स्पष्टता से पहचान कर यह सुझाव दिया कि हमें यूरोप-अमरीका की उत्पादन प्रणाली की ज्यों की त्यों उधार लेने के बजाय जहां तक संभव हो कम पूंजी वाली छोटी मशीनों से देश का औद्योगीकरण करना चाहिए। पूंजी-निर्माण में कमी का एक बड़ा कारण देश के शासक वर्ग की फिजूल-खर्ची, शान-शौकत और फैशनपरस्ती है, जिसे रोके बिना देश में बचत हो नहीं सकती। इसलिए सालवार पांच-दस लाख कमल खिलाने की आज की योजना के विकल्प के रूप में डॉ. लोहिया ने कहा कि योजना का लक्ष्य होना चाहिए सारी जनता को एक साथ ऊपर उठाना। इसके लिए जरूरी है कि जब तक अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं जैसे रोटी, कपड़ा, मकान, इलाज एवं शिक्षा की सबके

लिए समुचित व्यवस्था न हो जाये तब तक विलासिता, शान के खर्चों पर पूर्णतया प्रतिबंध लगे।

देश की राजनीति में संभवतः डॉ. लोहिया ही अकेले विचारक थे, जिन्होंने आर्थिक विकास और देशकी सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को एक दूसरे से अलग-थलग रखने के बजाय उनको समग्र दृष्टि से देखा और कहा कि सब समस्याओं का सीधा सामना करके व उनका जन-अभिमुख हल निकाल कर ही देश को संपन्न बनाया जा सकता है। इसलिए प्रशासन में चौखंभा राज, राजकाज से सामंती भाषा अंग्रेजी हटाओ, दाम बांधो, पिछड़े वर्गों को विशेष अवसर, खर्चीले स्कूलों पर प्रतिबंध, खर्च की सीमाबंदी, एक घंटा देश को, भूमिसेना, शिक्षासेना, सात साल की सिंचाई योजना, नकली बंटवारे का खात्मा, हिंदू-मुस्लिम एका, एक-सा नागरिक कानून ये सब एक व्यापक समस्या के अलग-अलग पहलुओं के समाधान हैं। देश में समता और संपन्नता का समाज बनाने के लिए इन कार्यक्रमों और नीतियों को भी आर्थिक आयोजन के साथ चलाना पड़ेगा।

देहात में समाजवादी परिवर्तन का स्वरूप

● पन्नालाल सुराणा

खेती के मामले में मार्क्सवाद का सिद्धांत और व्यवहार दोनों चकनाचूर हो गये हैं। आज के दोनों बड़े कम्युनिस्ट देशों में कृषि विकास में सरासर नाकामी हुई है। लेकिन चीन इस क्षेत्र में बेहतर कामयाबी का दावा कर सकता है। वहां इसलिए ऐसा हो सका है कि वे शुद्ध मार्क्सवादी सिद्धांतों से थोड़ा हट कर चले हैं। 'ग्रेट लीप फार्वर्ड' (लंबी छलांग) की नाकामी से चीनी नेताओं ने बहुत-कुछ सीखा है और फिर उन्होंने खेती में देहाती सूझबूझ से काम लेना शुरू किया है। रूसी मे ऐसा ही चमत्कार दिखाने में खुश्चोव नाकाम रहे और उन्हें अपने पद से हाथ धोना पड़ा।

भारतीय समाजवादी आंदोलन ने अपना रास्ता मार्क्सवाद से आजाद रह कर खास तौर पर इसलिए चुना कि लोकतंत्र, राष्ट्रीयता और समाजवाद सभी हमें प्रिय रहे। जब इसके नेताओं ने मार्क्सवाद से नाता तोड़ना शुरू किया तो उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारत जैसे कम विकसित देश की कृषि समस्याओं को हल करने के लिए मार्क्सवाद के पास बहुत ही कम सुझाव हैं। उन्हें इस सवाल पर नये तरीके से सोचना पड़ा।

इस प्रक्रिया में डॉ. लोहिया का अनुदान बेमिसाल रहा। उन्होंने कृषि विकास के समाजवादी कार्यक्रम को पूरे तौर भारतीय रंग दिया। उनके विचारों को कुछ इस तरह रखा जा सकता है :

१. परती जमीन में खेती की जाये, जिसका अनुपात कुल जमीन का काफी है।

२. भूमि का समान बंटवारा हो।

३. सिंचाई के छोटे और बीच के तरीकों पर जोर दिया जाये।

४. राजस्व कर (मालगुजारी) खत्म किया जाये।

५. एक भूमिसेना बनायी जाये, जो एक तरफ तो बेकारों को काम देगी और दूसरी तरफ सिलसिलेवार छोटी कृषि-इंजीनियरी योजनाओं को लागू करेगी।

६. राज्य को मजबूत करना।

इनमें सिर्फ दूसरा और आखिरी मुद्दा शुद्ध मार्क्सवादी ढांचे में आता है, लेकिन दूसरे, खासकर तीसरा और पांचवां, बिल्कुल नये हैं। ये सब कभी भविष्य में अमल होने वाली नीतियों की तरह नहीं, बल्कि तुरंत अमल के कार्यक्रम के रूप में महत्व रखते हैं।

२७ नवंबर से ३० नवंबर १९५३ तक बंबई में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की नीति समिति की बैठक में हिस्सा लेते हुए डॉ. लोहिया ने अपने विचारों को विस्तार में बताया। उन्होंने कहा कि खेती योग्य लगभग ४२ करोड़ एकड़ जमीन में से सिर्फ २६ करोड़ १० लाख एकड़ जमीन पर खेती होती है। इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि समाजवादी सरकार को हर साल एक करोड़ एकड़ जमीन को खेती के लिए तैयार करना चाहिए। भू-सर्वेक्षण विभाग से कहा जा सकता है कि वह देश के अलग-अलग हिस्सों में एक-एक करोड़ एकड़ का भूभाग चुने। पहले तीन सालों में तो इस कार्यक्रम में लगभग डेढ़ अरब रुपये का विकास व्यय होगा। और हर साल एक अरब रुपये खर्च पड़ेगा। यह सुझाव उस वक्त नहीं माना गया, फिर भी तीन योजनाएं बीत जाने के बावजूद यह कार्यक्रम अमल के लायक है १९६५-६६ के आंकड़ों से पता चलता है की ५ करोड़ एकड़ से भी ज्यादा जमीन परती है।

सन १९५३ में ही डॉ. लोहिया ने यह चेतावनी दी थी कि कांग्रेस सरकार बड़े पूंजीपतियो और जमींदारों के हितों को बढ़ावा देगी, परती जमीन शायद उद्योगपतियों में से बड़े खेतिहर बने सेठों को सौंप दी जायेगी। यह बात सच साबित हो चुकी है।

राजस्थान, आंध्र, और उत्तरप्रदेश के तराई जिलों में काफी जमीन उद्योगपतियों को दी जा चुकी हैं। दूसरी तरफ खेतिहर मजदूरों के एक करोड़ से ज्यादा परिवार अपनी जमीन या उचित रोजगार न होने से भुखमरी के शिकार हैं। भारत के समाजवादियों को इस सवाल पर भरपूर संघर्ष करना चाहिए कि जो भी अतिरिक्त भूमि खेती लायक बनायी जाये वह खेतिहर मजदूरों को ही मिलनी चाहिए।

भूमि के फिर से बंटवारे के लिए ढेरों कानून पास किये गये हैं, जिनका नतीजा जमीन का समान वितरण और खेतिहरों का उत्साहवर्धन नहीं, बल्कि यह निकला है कि हजारों बटाईदारों को बेदखल कर दिया गया है और भविष्य के बारे में

जमीन मालिकों, बटाईदारों और मजदूरों में दुविधा पैदा हो गयी है। जमीन के बंटवारे में कितनी असमानता है यह नीचे की तालिका से पता चलती है।–

तालिका : परिवार की सदस्य संख्या के अनुसार जमीन

जमीन का मालिकाना	जमीन (लाख एकड़ों में)	जमीन का बंटवारा (कुल जमीन का प्रतिशत)	जमीन मालिक घरानों का प्रतिशत
५ एकड़ से कम	४३७	११.८	५५.८
५ से १० एकड़ तक	५३६	१४.५	१९.०
१० एकड़ और उससे ज्यादा	२७२७	७३.७	२५.२
कुल योग	३७००	१००.०	१००.०

(१९६०–६१ में भूमि स्वामित्व पर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण १६ वें चक्र की रिपोर्ट।)

२५ फी सदी बड़े घरानों के पास कुल जमीन का ७४ फीसदी है (यानी एक चौथाई के पास तीन चौथाई जमीन) और बड़े लोगों के पास जमीन और आती जा रही है। अब तो जमीन का समान बंटवारा बहुत जरूरी हो गया है। क्या इस सिलसिले में कोई प्रगतिशील कदम उठाया जायेगा ?

बड़ी–बड़ी सिंचाई योजनाओं के बजाय छोटे और बीच के सिंचाई तरीकों पर जोर देने की बात भी डॉ. लोहिया ने कही थी। जल (यानी जीवन) सिंचाई और फसल के बीच की खास कड़ी है। अनिश्चित वर्षा वाले देश में खेती के लिए इसकी व्यवस्था बहुत जरूरी है। बहुत बड़ी सिंचाई योजनाओं से इसका बंदोबस्त करना ढेरों पैसा लगाने को मजबूर करता है, जिससे मुद्रास्फीती खतरनाक हद तक बढ़ जाती है।

दूसरे इससे क्षेत्रीय असमानता भी बढ़ती है। तीसरे इसमें कम रोजीवाले मजदूरों और स्थानीय कारीगरों और साधनों के इस्तेमाल की गुंजाइश भी कहां है ?

बड़ी योजनाओं के लिए बहुत बड़े विशेषज्ञों और अति आधुनिक मशीनों की जरूरत होती है। छोटी योजनाओं से अभावग्रस्तता को दूर करने के अलावा अन्न उत्पादन बढ़ाया जा सकता था और पूंजी बढ़ाने में मदद मिल सकती थी।

मगर प्रारंभिक आयोजकों को तो बड़ी योजनाओं की ललक थी। इससे भारतीय अर्थतंत्र पर बहुत ही बुरा असर पड़ा, पिछले २० वर्षों का तजुर्बा उस महान समाजवादी के भय को सच्चा साबित करता है। हालांकि सिंचाई की क्षमता तो बढ़ा ली गयी है, मगर इसका इस्तेमाल दो तिहाई से कुछ ही ज्यादा हो पाता है। और चूंकि बड़ी सिंचाई योजनाएं कुछ खास इलाकों को ही फायदा पहुंचाती हैं, इसलिए बड़े हिस्से बस प्रकृति की दया पर निर्भर रहते हैं। लगता है कि अब आयोजकों को अपनी गलती का एहसास हुआ है। हमें उम्मीद करनी चाहिए कि वे फौरन नये रास्ते पर चलना शुरू कर देंगे।

चौथे आम चुनाव के बाद मालगुजारी का खातमा एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है, क्योंकि तब कई गैरकांग्रेसी संयुक्त सरकारों ने इसे अपने न्यूनतम कार्यक्रमों में खास महत्व दिया। ऐतिहासिक तौर पर मालगुजारी गोरों के हाथ किसानों की लूट थी। शुरू में तो यह कुल उत्पादन की एक तिहाई रखी गयी थी।

भारतीय राष्ट्रीयता के मनीषी डॉ. दादाभाई नौरोजी ने इस साम्राज्यवादी शोषण के अस्त्र पर जोरदार हमला किया था। जमींदारों के इलाकों में तो यह और भी ज्यादा थी। आजादी के बाद जमींदारी उन्मूलन से कुछ राहत मिली, मगर छोटे किसानों पर, खासकर जिनके पास लाभकर जोत नहीं थी, इसका वार चलता रहा।

डॉ. लोहिया ने इसको खत्म करने का नारा दिया। आज देश में प्रबल जन भावना है कि अलाभकर जोत से मालगुजारी खत्म की जाये। जैसा कि डॉ. लोहिया ने बताया कि इससे ८० करोड़ रुपये का नुकसान होगा। लेकिन तब अमीर किसानों पर टैक्स लगाना ही होगा, जो सरकारी खर्चे के बल पर सारे फायदे उठाते हैं। १९५९ में चावल और गेहूं की बाजार में आमद के बारे में भारत सरकार की एक रिपोर्ट में कहा गया था कि बड़े किसानों का हाथ बहुत ऊपर रहता है। वे छोटे किसानों को धान की खड़ी फसल के बदले कर्ज देते हैं, और इस तरह फसल उनकी हो जाती है, और दूसरी तरफ वे थोक व्यापार और कभी कभार कुटाई के काम भी करते हैं।

अगर धान के किसानों का यह हाल है तो गन्ना वालों का क्या होगा ? उनकी आमदनी आसमान छू सकती है, जबकि उसमें से सरकारी खजाने को बस मुट्ठी भर आमदनी होती है। इसलिए इन पर कर लगाने से देश को १५० से १८० करोड़ रुपये का फायदा होगा।

भूमिसेना या अन्नसेना का विचार लोहिया के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। ऊपर मैंने जिस नीति निर्धारक समिति की बैठक का जिक्र किया उसमें उन्होंने इस नीति को जोरदार ढंग से पेश किया था।

डॉ. लोहिया ने नयी जमीन तोड़ की योजना भी सामने रखी थी। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने १० लाख लोगों की भूमिसेना तैयार करने को कहा। ये लोग ज्यादातर खेतिहर मजदूरों में से होते। उनमें से ज्यादा समझदार लोगों को कृषि इंजीनियरी में प्रशिक्षण दिया जाता। गांव के लिए ऐसा हुनर अपने आप में एक कामयाबी होती।

उस सेना की टुकड़ियां बंजर परती भूमि को कृषि योग्य बनातीं और सिंचाई की योजनाओं को भी अमल में लातीं। उनके एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने से उनकी मार्फत समाजवादी विचार फैलते। देहाती जीवन में एक बुनियादी प्रगतिशील रंग भर जाता।

डॉ. लोहिया ने अपने साथियों को ललकारा कि वे आगे बढ़ कर इस विचार पर अमल करें, लेकिन कांग्रेसी शासकों ने अड़ंगे लगा कर इसे नाकाम कर दिया। वे लोग विपक्षी दलों के निर्माणकारी कामों में भी लंगड़ी मार देते हैं।

चौथे आम चुनाव के बाद देश में नयी राजनीतिक स्थिति सामने आयी। अपनी चुनाव नीति की थोड़ी कामयाबी से नये जोश में भर कर लोहियाजी ने बिहार और मध्यप्रदेश में भूमिसेना बनाने की शुरुआती तैयारी आरंभ की, लेकिन तभी बेरहम मौत ने उन्हें हमसे छीन लिया। अपने स्वर्गीय नेता में समाजवादियों की अगर कोई श्रद्धा है, तो उन्हें इस कार्यक्रम पर ईमानदारी से अमल करने के बारे में सोचना चाहिए।

राज्य को मजबूत करने के बारे में लोहियाजी का विचार तफसील में सामने नहीं आ पाया। ऊपर से यह विरोधाभास का शिकार लगता था, क्योंकि वे सत्ता के विकेंद्रीकरण और राजकीय पद्धति के लोकतंत्रीकरण पर बहुत जोर देते थे। वे चाहते थे कि समाज की आम ताकत बढ़े, ताकि छोटे किसानों की रक्षा की जाये और देहाती मगरमच्छों के सर कुचल दिये जायें। राज्य को मजबूत करने से होनेवाले सत्ता और शक्ति के केंद्रीकरण के प्रति भी वे जागरूक थे। इसके लिए उन्होंने चौखंभा राज की परिकल्पना रखी थी। वे समझते थे कि एक बार गांव की पंचायत को सीमित ही, परंतु संविधान द्वारा सुनिश्चित अधिकार, वित्तीय साधन और शक्ति मिल जाने के बाद गांवों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र कायम हो जायेगा। तब राज्य के हाथों सत्ता और शक्ति के केंद्रीकरण से पनपनेवाली स्वेच्छाचारिता पर भी जनता का अंकुश होगा।

●

बराबरी के लिए विशेष अवसर

● गुंजेश्वरी प्रसाद

कार्ल मार्क्स का सर्वहारा इतिहास का वह वर्ग है, जो प्रभुवर्ग द्वारा शोषित, पीड़ित, और अनादृत है। महात्मा गांधी का हरिजन भारतीय समाज का वह वर्ग है, जो सवर्णों द्वारा तिरस्कृत और पददलित है। मगर समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया की पिछड़ी जातियां भारतीय इतिहास की उन रुग्ण संतानों में से हैं, जो सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और शैक्षणिक बराबरी से वंचित हैं। वे इस बराबरी के लिए छटपटा रही हैं।

कार्ल मार्क्स ने इतिहास को जिस वर्गवादी दृष्टिकोण से देखा और जिस सर्वहारा वर्ग की उसने परिकल्पना की वह सामाजिक दृष्टि से तिरस्कृत नहीं, अपितु राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से शोषित और पीड़ित है तथा अपने राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्षशील है। लेकिन डॉक्टर लोहिया की दृष्टि में भारत की पिछड़ी जातियां भारतीय इतिहास के उन तिरस्कृत वर्गों में हैं, जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों से रहित होकर वर्णों के रूप में जम चुकी हैं। महात्मा गांधी का हरिजन, जो सवर्णों द्वारा शोषित, पीडित और पददलित है, सिर्फ सामाजिक सम्मान के लिए ही आवाज उठाता है। इस प्रकार डॉ. राममनोहर लोहिया की पिछड़ी जातियां महात्मा गांधी के हरिजन और कार्ल मार्क्स के सर्वहारा से भिन्न और अधिक रुग्ण हैं। इसी रुग्ण वर्ग को, जो भारतीय समाज में वर्ण के रूप में हजारों वर्षों से स्थिर है, डॉ. लोहिया सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों के उस हिरावल दस्ते के रूप में स्वीकार कर आगे लाये, जहां द्वंद्ववादी विचारक कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष भी असहाय हो जाता है।

डॉ. लोहिया के पूर्व समाजवादी आंदोलन में मात्र वर्ग की मार्क्सवादी धारा का प्रभाव था, क्योंकि समाजवादी नेताओं को किसी न किसी रूप में द्वंद्ववाद से ही प्रेरणा मिलती थी। मार्क्स के द्वंद्ववाद से प्रेरित भारत

का समाजवादी आंदोलन भारत के उन असंतुष्ट सवर्णों का आंदोलन था, जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े रह गये थे। भारत के कम्युनिस्टों को इस परिप्रेक्ष्य में अच्छी तरह से देखा जा सकता है और १९५५ के पूर्व तक भारत के लोकतांत्रिक समाजवादी दल के आंदोलनों का भी अध्ययन किया जा सकता है। १९५५ के पूर्व तक समाजवादियों का आंदोलन भारत के उन शोषितों, पीड़ितों और तिरस्कृतों को अपनी ओर आकृष्ट करने में विफल रहा, जिनको महात्मा गांधी ने हरिजन कहा था। समाजवादी आंदोलन का नेतृत्व संभालने के बाद डॉ. लोहिया ने भारत के समाजवादी आंदोलन की उस आधारशिला को बदल दिया, जो कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित थी। समाजवादी आंदोलन को तीव्र गति देने के लिए उन्होंने भारत के उस वर्ग की ओर ध्यान दिया जो वर्गों के रूप में पिछड़ा हुआ था और सामाजिक, राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों से वंचित था। भारत की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं पर हजारों वर्षों से जिन मुट्ठी भर द्विजों का वर्चस्व था, उस वर्चस्व को समाप्त करने के उद्देश्य से लोहियाजी ने पिछड़ी जातियों के लिए विशेष अवसर के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। ' विशेष अवसर ' का यह सिद्धांत यूरोप से उधार लिये गये ' अवसर की समानता ' के सिद्धांत से बिल्कुल अलग और विपरीत था। कोई आश्चर्य नही कि परंपरागत समाजवादियों ने इस पर अक्सर प्रहार किया। जबाब में डॉ. लोहिया ने एक ही बात कही " जिसे हजारों साल से दबा कर रखा गया है उसे भी वंश परंपरा से सुसंस्कृत, संपन्न, सुशिक्षित के बराबर अवसर दोगे, तो दबा हुआ समता के स्तर पर कैसे आयेगा ? सचमुच बराबर बनाने के लिए पिछड़ों को सहारा देकर ऊपर उठाना पड़ेगा।" उन्होंने ऊंची जातियों के समाजवादियों को खाद–पानी बनने को कहा, ताकि " दबे–कुचलों में से नया नेतृत्व खिले।"

उन्होंने कहा की इस देश में वर्ण व्यवस्था के द्वारा हजारों वर्षों से जो राष्ट्रीय रोग पल रहा है उस रोग से पिछड़े वर्गों में बराबरी की भूख मर गयी है और इनमें राजनीति के प्रति गहरी उदासीनता व्याप्त है। पिछड़े वर्गों की राजनैतिक उदासीनता से ही भारत की हर विदेशी आक्रमण के समय हार हुई है। भारत के इस राष्ट्रीय रोग को समूल नष्ट करने के लिए और भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए समाजवादी आंदोलन की यह आवश्यक शर्त्त है कि वर्ण व्यवस्था पर आधारित भारत की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं समाप्त हों। इसलिए राजनीति, पलटन, व्यापार और ऊंची नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए विशेष अवसर देकर उनकी मरी हुई बराबरी की भूख जगायी जाये। यों तो आबादी की दृष्टि से सभी जातियों की महिलाओं को मिला कर पिछड़ों की संख्या ८५–८६ प्रतिशत के आसपास है। मगर इन्हें

राजनीति, पलटन व्यापार और ऊंची नौकरियों में यदि उनको ७०–७५ प्रतिशत जगहें न मिलें, तो कम से कम आधे से अधिक, ६० प्रतिशत जगहें तो जरूर मिलें।

अपने विशेष अवसर के सिद्धांत में डॉ. लोहिया ने सभी जातियों की औरतों को क्यों शामिल किया ? संवेदनशील लोहिया की पैनी दृष्टि में भारत की सभी जातियों की औरतें पिछड़ी जातियों से भी अधिक पीड़ित और पददलित हैं और उनको हर वर्ण के पुरुषों ने ऐसी नारकीय स्थिति में बंद करके रखा है, जो राष्ट्र और मानवता के लिए अभिशाप है। डॉ. लोहिया ने कहा कि समाजवादी आंदोलन, जो हर प्रकार की समता की वकालत करता है, तब तक अधूरा और लंगड़ा रहेगा जब तक समाज के दबे-पिछड़े लोगों और औरतों में बराबरी की भूख नहीं जागती।

विशेष अवसर का सिद्धांत समता का ही नहीं, अब तो राष्ट्रीय एकता का भी औजार है। जैसे-जैसे पिछड़ी जातियों में राजनैतिक चेतना बढ़ रही है, वे अपनी दारुण दशा के प्रति भी सजग हो रही है। तमिलनाडु के ई. वी. रामस्वामी नायकर जैसे नेताओं के प्रोत्साहन पर कहीं-कहीं तो पृथकतावाद की भी आवाज उठने लगी है। इसी तरह से राजनीतिक रूप से सक्रिय नागा और मिजो जनजातियां भी पृथकाव की भाषा में न सिर्फ सोच रही हैं, बल्कि बरसों से इस दिशा में सक्रिय भी हैं। इस आग को फैलने से रोकने के दो ही उपाय है—पिछड़ी जातियों के लिए सब कहीं विशेष अवसर और डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित चौखंभा राज के सिद्धांतों पर आधारित विकेंद्रित राज्यव्यवस्था।

भाषा के सिकुड़ते दायरे : अंग्रेजी की वापसी!

● लक्ष्मीकांत वर्मा

१९६७ के भाषा आंदोलन का एक परिणाम यह हुआ था कि मातृभाषाओं के लिए प्रतिष्ठा के मार्ग पर अग्रसर होने के अवसर के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रभाव क्षेत्र भी कुछ सिकुड़ था। शिक्षा संस्थानों, विश्वविद्यालयों और सरकारी कामकाज में मातृभाषा के प्रति थोड़ा राग जागा था। अंग्रेजी के विभागों और संस्थानों में गिरावट आयी थी। विद्यार्थियों में मातृभाषा के माध्यम से पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई थी। उस वर्ष उत्तरप्रदेश के हाईस्कूल और इंटर की परीक्षा में ३७ प्रतिशत से ४० प्रतिशत की अपेक्षा ५५ प्रतिशत से ६० प्रतिशत तक विद्यार्थी सफल हुए थे। विषय-ज्ञान और उसके साथ-साथ शिक्षा की भूख में देसीपन प्रतिष्ठित हुआ था। विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभागों में विद्यार्थियों की संख्या घटी थी। कुछ जगहों पर तो लोगों को यह चिंता होने लगी थी कि यदि विद्यार्थियों की संख्या में ऐसी ही गिरावट हुई तो उन अध्यापकों का क्या होगा, जो स्थायी रूप से अंग्रेजी के अध्यापक हैं और जिनके पास अंग्रेजी जानने के सिवा कोई दूसरा गुण नही है। यह भी सुझाव आये थे कि इन अतिरिक्त अध्यापकों को अनुवाद का काम दे दिया जाये, ताकि बहुत-सी कठिनाइयां, जो पुस्तकों के अभाव के कारण होती है, उनमें सहूलियत हो। चर्चा चली थी कि भारतीय भाषाओं का एक अलग विभाग हो और ये अध्यापक उस विभाग से जोड़ दिये जायें। शिक्षा में तमिल, तेलगू, कन्नड आदि दक्षिण भारत की भाषाओं में से किसी एक का अध्ययन, एशियाई भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य बना दिया जाये। सारांश यह कि उस आंदोलन से दिमाग में एक फैलाव आया था। कुछ सोचने के तरीके बदलने लगे थे। नये रास्ते, नयी तरतीबों की कोशिशें शुरू हुई थीं और ऐसा लगने लगा था कि वह दिन दूर नहीं कि पूरी जहनियत एक नये उन्मेष के साथ विकसित हो कर कुछ बदलाव का मिजाज बनाये।

लेकिन वह दौर केवल कुछ महीनों का हो कर रह गया। १९६७ में जिस दिन

भाषा विधेयक में यह संशोधन लाया गया कि जब तक देश का एक राज्य भी अंग्रेजी हटाने का विरोध करेगा तब तक अंग्रेजी नहीं हटायी जायेगी फैलता, बढ़ता हुआ मत सिकुड़ गया। प्रकारांतर से देश ने यह समझ लिया कि अंग्रेजी का हटना संभव नहीं है। धीरे-धीरे अंग्रेजी की प्रतिष्ठा फिर बढ़ने लगी। आज तो यह स्थिति है कि यदि जांच की जाये, तो पता चलेगा कि अंग्रेजी उन क्षेत्रों में भी फैल गयी है, जहां १९६७ के पहले नहीं थी। गृह मंत्रालय के आदेशों के बावजूद लोकसेवा आयोग ने हिंदी या मातृभाषाओं को वह प्रतिष्ठा नहीं दी, जो उन्हें मिलनी चाहिए थी। अंग्रेजी को ही अधिक प्रोत्साहन दिया जाने लगा। निजी स्कूलों की संख्या बढ़ने लगी। विश्वविद्यालयों में आज अंग्रेजी विभागों और अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या तिगुनी - चौगुनी हो गयी है। लोकसेवा आयोग की परीक्षा में अंग्रेजी का बोलबाला हो गया है। प्रशासनिक, अवसर और सुविधा की दृष्टि से अंग्रेजी फिर तेजी के साथ अपने पंजे फैला कर पूरी व्यवस्था, मानस और दृष्टि में जकड़बंदियां पैदा करती जा रही है। उत्तर भारत में मुन्सिफ जज, जो बीच में हिंदी में भी फैसले देने लगे थे, अब फिर से अंग्रेजी में फैसले देने लगे हैं। और एक अजीब प्रकार की अंग्रेजीपरस्ती शिक्षित समाज, व्यावसायिक समाज और सामान्य समाज में फैलती जा रही है।पहली जकड़बंदी के प्रति हम और देश के लोग जागरूक थे, लेकिन अब वह जागरूकता उदासीनता में बदलती जा रही है। सहिष्णुता ने भी बेहयाई का रूप ले लिया है।

इस वस्तुस्थिति के प्रति हमें फिर से अपने मन को जगाना पड़ेगा। आज शायद अंग्रेजी हटाओ आंदोलन को पहले से अधिक तेज गति से चलाने की आवश्यकता है, क्योंकि आज अंग्रेजी छल और छद्‌म रूप से स्थिर हो रही है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे अंग्रेजी अनिवार्य नियति के रूप में देश के मन में बैठती जा रही है क्योंकि आज १९६७ के भाषा विधेयक संशोधन और भारतीय अल्पसंख्यकों के एक वर्ग की मातृभाषा के रूप में मान्यता दे कर देश और समाज पर अंग्रेजी लदी नहीं है, प्रतिष्ठित है। नागालैंड की मातृभाषा के रूप में मान्यता देकर इंदिरा गांधी की सरकार ने बड़ी आसानी से एक प्रदेश को सदा-सदा के लिए अंग्रेजी का समर्थक बना कर छोड़ दिया है ताकि जब कभी भी अंग्रेजी हटा कर मातृभाषाओं को प्रतिष्ठित करने की बात उठायी जाये तो वह नागालैंड को तुरुप के इक्के के रूप में इस्तेमाल कर सके और उन सभी विरोधों का कड़ाई के साथ दमन कर सके, जो किसी प्रकार का अंग्रेजी विरोध पेश करें। इतना ही होता तो भी गनीमत थी, क्योंकि हम आज नहीं तो कल नागालैंड को भी अपनी भाषा को संगठित करने और उसको विकसित करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते थे। आज भी मेरा विश्वास है कि

नागालैंड अंग्रेजी को मातृभाषा के रूप से स्वीकार नही करेगा। वहां खुद ही इसका आंदोलन चलेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों।

लेकिन इससे भी खतरनाक काम सरकार अपनी सरकारी संस्थाओं द्वारा कर रही है। मिसाल के लिए साहित्य अकादमी ही को लें। उसके अध्यक्ष डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या भी अजीबोगरीब आदमी हैं। इधर उन्होंने संपूर्ण हिंदी भाषाभाषी क्षेत्र या मध्यदेश में स्थापित हिंदी को टुकड़ों में बांटना शुरू कर दिया है। एक ओर तो वे कट्टर हिंदी विरोधी हैं, दूसरी ओर वे अंग्रेजी को सख्ती से लागू किये जाने के पक्ष में हैं। एक जमाना था कि वे कट्टर हिंदी समर्थक या अंग्रेजी विरोधी थे, लेकिन इधर उनकी बुद्धि उल्टी हो गयी है। अब वे हिंदी के कट्टर विरोधी हैं। उसकी जितनी निंदा संभव हो सकती है, वे करते हैं। हो सकता है उनकी यह राय उनके लिए ठीक भी हो, लेकिन नीयत में खोट वहां मालूम होती है जहां वे हिंदी की निंदा के साथ-साथ किसी भी भारतीय भाषा को अंग्रेजी के समकक्ष नहीं रखना चाहते। यहां तक कि वे इस दृष्टि से बंगला का भी समर्थन नहीं करते। इसके विपरीत यदि उनका बस चले तो वे संपूर्ण भारत की राज या राष्ट्रभाषा के स्थान पर अंग्रेजी को बिठा दें।

इधर उनकी यह कुत्सित बुद्धि मध्यदेश को भाषाई और बोलियों के आधार पर टुकड़े-टुकड़े करने पर कटिबद्ध है। मैथिली, अवधी, भोजपुरी और इस प्रकार की बोलियों को प्रतिष्ठित करना शुरू कर दिया है। वैसे किसी को भी इन बोलियों को प्रतिष्ठित करने के प्रति कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन यह सच है कि साहित्य अकादमी और खासकर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या की यह नीति अवश्य है कि वे इन भाषाओं को उभार कर हिंदी विरोध को सांप्रदायिक स्तर पर विकसित करें और इस सांप्रदायिकता में अंग्रेजी को बनाये रखें, जैसे सांप्रदायिकता के आधार पर अंग्रेज इस देश की छाती पर १५० वर्षों तक मूंग दलता रहा है। साहित्य अकादमी का केवल इतना ही काम रह गया है कि वह कैसे अपनी शक्ति और साधनों को क्षेत्रीयता, सांप्रदायिकता और टूटन के लिए इस्तेमाल करे।

पिछले साल अखबारों ने छापा कि राजनारायण ने राष्ट्रपति को अंग्रेजी में भाषण करने से रोका। राष्ट्रपति ने अंग्रेजी में ही राजनारायण को 'शट अप' कहा। कुछ अखबारों ने तो यहां तक लिखा कि राजनारायण अपनी छड़ी को हिलाते हुए राष्ट्रपति की तरफ बढ़े। कुछ ऐसा भ्रम अखबारों ने फैलाया कि जैसे राजनारायण हिंसात्मक कार्रवाई करने के लिए बढ़ रहे थे। बात में कितनी सचाई थी, कितना झूठ था यह बाद में लोगों को पता चल गया होगा। राजनारायण के आलोचकों ने यह तो देखा कि संसद में शोरगुल करना अच्छा आचरण नहीं है, किंतु किसी ने

यह नहीं देखा कि शायद ही किसी देश का राष्ट्रपति इतना अक्षम हो कि वह अपनी मातृभाषा में भी बोलने से इंनकार करे और पूरे राष्ट्र की संसद को एक विदेशी भाषा में संबोधित करने की चेष्टा करे। इससे भी बढ़ कर धृष्टता यह है कि राष्ट्रपति देशी भाषाओं को सीखने का प्रयास भी न करें और जब उसे मातृभाषा न बोल पाने के कारण रोका जाये तो रोकनेवाले की ही आलोचना की जाये। वस्तुतः यदि भारत में रह कर और भारतीय जनजीवन का प्रतिनिधि बन कर राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मंत्री अपने मन में मातृभाषा के महत्व को न समझें और फिर भी इन पदों पर कायम रहें, तो मैं समझता हूं कि इसमें जनता भी उतनी ही दोषी है जितने कि ये बड़े पदाधिकारी। क्या किसी भी दूसरे देश में किसी भी ऐसे प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति की कल्पना की जा सकती है, जो अपनी मातृभाषा भी न बोल सके। मैं समझता हूं यह केवल भारतीय जनता ही सहन करती है। इस प्रश्न पर विद्रोह हो जाता, तो आश्चर्य नहीं था, पर हम बेशर्म बन कर चुप बैठे रहे।

सरकार इसी प्रकार आकाशवाणी से भी अंग्रेजी का ही प्रचार-प्रसार करती है। यदि हिसाब लगा कर देखा जाये तो अब १९६२ से ज्यादा अंग्रेजी का इस्तेमाल आकाशवाणी में हो रहा है। मामूली-सी चीज अनुंबधपत्र है, जिसे ले के १९६०–६२ में कुछ लेखकों ने रेडियो का कार्यक्रम छोड़ दिया था और यह मांग की थी कि १९६२ के बाद सारे अनुबंधपत्र भारतीय भाषाओं में होने चाहिए। कुछ दिनों तक तो सरकार टालती रही, लेकिन फिर कम से कम हिंदी क्षेत्रों में हिंदी में अनुबंधपत्र देने लगी थी। अब वह भी बंद हो गया है। केवल उन्हीं के पास हिंदी में अनुबंधपत्र जाते हैं, जो अंग्रेजी का अनुबंध स्वीकार ही नहीं करते। अंग्रेजी की यह वापसी आकाशवाणी में बड़े पैमाने पर हुई है। इस वापसी के साथ साथ अंग्रेजी परस्त अफसरों का भी मिजाज बढ़ गया है। टिप्पणी लिखना, जो कुछ सीमा तक हिंदी में होने लगा था, आज फिर मात्र अंग्रेजी में हो रहा है। जब सरकार को यह दिखाना होता है कि वह हिंदी के विकास के लिए प्रयत्नशील है तो वह हिंदी परिषद और हिंदी की प्रशिक्षण योजना को सामने रख देती है और यह बता देती है कि हिंदी में काम करने के लिए इतने क्लर्क प्रशिक्षित किये गये। लोगों को लगता है कि हिंदी का विकास हो रहा है, लेकिन केवल क्लर्कों के हिंदी या मातृ भाषाओं को सीखने से अंग्रेजी कैसे हटेगी, जब तक वह प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तथा अन्य अफसरों के मन से नहीं हट जाती ?

डॉ. लोहिया ने भाषा के सवाल को समता के सवाल के साथ जोड़ कर अंग्रेजी को समता विरोधी, शोषण और गुलामीपरक और लोक भावना, लोक चेतना के लिए घातक बताया था। उनका मातृभाषाओं के लिए मोह इसलिए उस प्रकार का

नहीं था, जिस प्रकार का कि हिंदी साहित्य सम्मेलन, या अन्य राष्ट्रभाषा की समस्या को लेकर लड़ने वाली और सरकार से सौदा, अनुदान लेने वाली संस्थाओं का है। इन भाषागत संस्थाओं ने कभी भी गैरबराबरी या विषमता को अंग्रेजी के साथ तथा मातृभाषा और बराबरी के साथ रख कर देखा ही नहीं। डॉ. लोहिया लोकभाषा, लोकभूषा, लोकभवन के समर्थक थे। दिल्ली में तेरह-तेरह, चौदह-चौदह मंजिली इमारतें किस प्रकार शोषण की केंद्र हैं, इसका प्रमाण ढूंढ़ना नहीं पड़ेगा। मुझे याद आता है १९४०-४१ का जमाना। महात्मा गांधी कमला नेहरू स्मारक अस्पताल का उद्घाटन करने के लिए इलाहाबाद आये थे। उन्होंने ही उसका शिलान्यास भी किया था। अस्पताल जवाहरलाल जी की रुचि के अनुसार बना था। उस समय इलाहाबाद में उस अस्पताल से ज्यादा अच्छी इमारत कोई नहीं थी। गांधीजी ने एक बड़े ही मर्म की बात कही थी कि 'जवाहर ने इसे अपने मन के मुताबिक तो बनवाया है, लेकिन इसमें गांव का रहने वाला गरीब भाई आने की हिम्मत कर सकेगा क्या ?' उनका मतलब था कि पूरा अस्पताल उस गांव वाले के साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकेगा। साथ ही उन्होंने यह भी कहा था—इमारत थोड़ी सस्ती होती, रोगियों की चारपाइयां ज्यादा होतीं तो अच्छा होता। गांधीजी के इस कथन में यह स्पष्ट था कि समाज में जितनी गहरी गैरबराबरी है, उसे देखते हुए वह अस्पताल कहीं केवल अमीर वर्ग का ही हो कर न रह जाये। आज उनकी यह आशंका काफी हद तक सही निकली है। कहने का मतलब है कि १९६७ के बाद से स्वयं अंग्रेजी हटाओ आंदोलन के चलाने वालों ने देश की गैर-बराबरी को अंग्रेजी के साथ नहीं जोड़ा है। साथ ही अंग्रेजी हटाओ आंदोलन को लोकभूषा और लोकभवन के साथ नहीं जोड़ा है। यदि वह आंदोलन पूरी समग्रता से इन तीन धाराओं में होता और तीनों एक साथ जुड़ते, तो आंदोलन का नया रूप बनता। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए दो-एक मिसालें दे दूं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने पुस्तकालय बनाने का अनुदान दिया। पुस्तकालय की इमारत बन गयी। आज चार साल से विशाल भवन पड़ा है। उसमें कई लाख की लागत लगी है, लेकिन उस भवन में पुस्तकों को रखने के लिए फर्नीचर और अल्मारियां आज तक नहीं जुट पायीं। नतीजा है कि उस इमारत में कुत्ते लोटते हैं। एक दूसरी इमारत है बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन की। वह भी इतनी ही विशाल है, लेकिन विद्यार्थी उसमें सौ से अधिक नहीं हैं। देखने से लगता है वर्तमान सरकार ने कोई इमामबाड़ा बनवा दिया है। इसी प्रकार मैंने उत्तर भारत के कई विश्वविद्यालयों को देखा है, जहां इमारतों को लोक आवश्यकता के अनुसार बनाने के बजाय विदेशी मन, शोषण वाले दिमाग और अपाहिज, पस्त मिजाजों ने केवल मकबरे के रूप में बनवा कर खड़ा कर दिया है। वे शान

और शौकत की प्रतीक बन कर रह गयी हैं। सामान्य रूप में विश्वविद्यालय हो या अस्पताल, गरीब सामान्य आदमी के लिए उसमें जगह नहीं है।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि भाषा के सवाल को जिस बड़े अन्याय के खिलाफ जोड़ कर डॉ. लोहिया ने सक्रिय रूप से चलाया था वह आज हमारी पकड़ से कहीं छूट गया है और वह मात्र भाषा का प्रश्न बन कर रह गया है? भाषा को कैसे शोषण का माध्यम बना कर आज हिंदुस्तान में अंग्रेजी को लाया जा रहा है, इस बात को अन्य शोषण के माध्यमों से जोड़ना जरूरी है और लोकभाषा, लोकभूषा, लोक भवन के सवाल को एक साथ जोड़ कर एक व्यापक आंदोलन चलाने की आवश्यकता है। यह तभी होगा जब हम सब तरह की गैरबराबरी को हमेशा अपने सामने रखेंगे। आज जागरूकता तो हममें, आपमें, सबमें है। कही असंतोष भी गहरे पैठ रहा है। मन कुलबुला रहा है, दिमाग में एक प्रकार की ऐंठन का भी अनुभव हो रहा है, लेकिन यह सारा का सारा मिथ्या विस्फोट में बंध कर रहा जाता है, क्योंकि हम पूरी लड़ाई न लड़ कर अधूरी और आंशिक लड़ाई लड़ने लगते हैं। आज जिस मनः स्थिति से हम गुजर रहे हैं वहां अपने मन और दिमाग को थोड़ा फिर से संगठित करने की जरूरत है। अन्याय के रूप जैसे के तैसे हैं। हमारे सारे आंदोलन चाहे अंग्रेजी हटाओ हो, या जाति तोड़ो हो अभी पहले ही दौर में अपने को दुहरा रहे हैं। परिणाम यह है कि उनमें जान नही आती। १९६०–७० का पहला दौर मैं अब समाप्त मानता हूं। १९७२ से अब हमारे सारे संघर्षों को दूसरे दौर में प्रवेश करना चाहिए। अंग्रेजी हटाओ का जहां तक संबंध है, उसे लोकभाषा और लोकभवन के आधार पर जोड़ कर चलना चाहिए–ऐसा मैं समझता हूं।

फिलहाल भाषा आंदोलन को १९६७ के विधेयक के विरोध में जेल जाने की तैयारी करनी जरूरी है। यह विधेयक समस्त भारतीय भाषाओं की छाती पर सिल की तरह रखा है। साथ ही उन संस्थानों के खिलाफ भी आंदोलन चलना जरूरी है, जो रामनामी ओढ़े भेड़िये की तरह पूरे राष्ट्र का रक्त पी रही हैं, जैसे साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, हिंदी निदेशालय, विश्वविद्यालय आयोग, सी. एस. आई. आर., एन. पी एल. आदि। इनमें नये प्रकार के शोषणों और ब्राह्मण संस्कारों को पनपाया जा रहा है।

●

लोहिया की विदेशनीति की अवधारणाएं आज के संदर्भ में

● परिमल कुमार दास

विश्व तथा भारत, पाकिस्तान, बंगला देश भूखंड में जो घटनाएं हुई हैं और हो रही हैं, उससे स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में और भारत की वैदेशिक नीति के मामले में लोहिया आज भी संगत हैं। लोहिया की बातें, जो उन्होंने सन ४८ में लिखीं या कहीं, आज खरी उतर रही हैं। लोहिया की दूरदृष्टि, सूझबूझ, समस्याओं की पकड़, ये सभी इतनी बुनियादी रही हैं कि समय के बीतने के बाद भी मूलतः इनके तात्पर्य तथा महत्व में कोई फर्क नहीं पड़ा। लोहिया की निगाह दशकों में फैली रही है।

विदेशनीति के क्षेत्र में हाल की कुछ घटनाओं का विश्लेषण करने से यह बात और भी साफ हो जायेगी। मई १९७२ में मास्कवा में हुई शिखर वार्ता में रूस और अमरीका के बीच कई प्रश्नों पर चर्चा तथा सहमति हुई। इनमें प्रमुख थी व्यापार तथा तकनीकी सहयोग संबंधी। रूस तथा चीन की साम्यवादी अर्थव्यवस्था साधारण नागरिक की रोजमर्रा की जरूरियातों को तो पूरा करती है, पर जब यह व्यवस्था विकास की स्थिति में पहुंचती है, तब वह लड़खड़ाने लगती है। तब इसे पश्चिम के पूंजीवादी देशों की सहायता की जरूरत पड़ जाती है। पांचदश कों के बाद और कठिन से कठिन बलिदानों के बावजूद रूस को अमरीकी तकनीकी और आर्थिक सहायता लेनी पडी। दो और पूंजीवादी देश पश्चिम जर्मनी और जपान भी रूस के विकास कार्य में हिस्सा ले रहे हैं। साइबेरिया के विकास कार्य में जापान बड़े पैमाने पर रूस को सहयोग दे रहा है। इसी तरह चीन भी जापान, पश्चिम जर्मनी तथा अमरीका के साथ तकनीकी सहयोग और व्यापार संबंध बढ़ाने के प्रयास में लगा हुआ है। रूस और चीन, ये दोनों साम्यवादी देश अपने अपने-अपने विकास के लिए पूंजीवादी देशों पर निर्भर हो चुके हैं। इसका कारण क्या है? लोहिया के कथनानुसार साम्यवाद और पूंजीवाद एक ही तकनीक पर आधारित होने के कारण

अभिन्न हैं। और तकनीकी क्षेत्र में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कहीं अधिक प्रगति कर चुकी है। राजनैतिक व्यवस्था भिन्न होते हुए भी और राज्य के हाथों संपत्ति का स्वामित्व होने पर भी, इन दोनों व्यवस्थाओं में यह साम्य, एक अरसे के बाद दोनों को एक दिशा की ओर ले जायेगा।

इसके साथ ही गोरे और अश्वेत इलाकों के बीच तकनीक का फर्क इतना ज्यादा बढ़ता चला जा रहा है कि और दूसरे प्रकार के साम्राज्यवाद से अधिक 'तकनीक का साम्राज्यवाद' शोषण व्यवस्था को कायम रखने में मददगार हो रहा है। पर धीरे-धीरे यह बात अश्वेत देशों के लोगों के बीच स्पष्ट होती जा रही है। मई १९७२ में सांतियागो (चिली) में हुए अंकटाड सम्मेलन में अश्वेत देशों को इस कटु सत्य का सामना करना पड़ा। सारे विकसित देश विकासशील देशों के मुकाबले अपने-अपने तिजारती और आर्थिक स्वार्थों की रक्षा में एकजुट हो गये। चाहे वे पूंजीवादी हों या साम्यवादी, इनकी एकता में इनके अंतर्विरोधों की कोई बाधा नहीं बनी। सांतियागो की इस घटना ने यह साफ कर दिया कि अश्वेत देशों के लिए नये समाज निर्माण के दर्शन के रूप में साम्यवाद और पूंजीवाद समान रूप से असंगत हैं। अश्वेत देश बिना तीसरे खेमे का निर्माण तथा संगठन किये न तो प्रगति की ओर बढ़ सकते हैं और न ही अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं। चाहे विदेशी सहायता के जरिये या उधार की तकनीक या हथियारों के जरिये, इन देशों पर अमरीका, रूस या किसी अन्य बड़े विकसित राष्ट्र का नियंत्रण जारी रहेगा।

हिमालय और हिंद महासागर के बीच के भूखंड में पिछले साल जो घटनाएं हुईं उन्हें लोहिया की दृष्टि ने १९५० में ही देख लिया था। पूर्व पाकिस्तान या तो पश्चिम पाकिस्तान का उपनिवेश बन कर रह जायेगा या बलवा करेगा— यही दो अंजाम लोहिया ने बताये थे। चौबीस साल बाद यह बात सही निकली। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भविष्यवाणी नाम की कोई चीज नहीं हुआ करती। लोहिया की समझ और दूरदृष्टि थी कि उनके मानस नयन में ये घटनाएं एक के बाद एक होती दीखतीं थीं। नकली बंटवारे को शाश्वत मान कर भारत की सरकार और उससे जुड़े बुद्धिजीवी पाकिस्तान में एक प्रकार की स्थिरता लाने का असफल प्रयास करते रहे। बावजूद इसके बंगला देश बना और भारत सरकार को मजबूरन इस काम में शरीक होना पड़ा। पर बंगला देश के निर्माण के बाद आज भी वही कोशिश जारी है। शिमला सतझौता इस दिशा में एक कदम है— जो पहले की तरह असफल होने जा रहा है। बचे हुए पाकिस्तान का मतलब सिर्फ भुट्टो साहब नहीं है। भुट्टो के अलावा खान वली खान (सरहदी सूबा) अताउल्ला खान मेंगल (बलूचिस्तान) और गुलाम मुर्तजा सैयद (सिंध) भी पाकिस्तान के मायने हैं। भुट्टो साहब पंजाब

के बाहर के लोगों का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकते। पाकिस्तान की अंदरूनी हालत उथल-पुथल के दौर से गुजरेगी ही, उसे भारत की प्रधानमंत्री, रूसी, अमरीकी या चीनी मदद के सहारे नहीं बचाया जा सकता। रूस और अमरीका पाकिस्तान के संभाविक विघटन को एक विकल्प मान कर अपनी नीति निर्धारण कर रहे हैं। पर भारत की सरकार भारत, पाकिस्तान, बंगला देश का एक ढीला–ढाला महासंघ बनाने की बात से आज भी कतराती रहती है। यह सही है कि इस प्रयास में अमरीका, रूस या चीन भारत का साथ नहीं देंगे। पर इसी वजह से भारत सरकार को इस दिशा में पहल करनी चाहिए। जिस रफ्तार से पाकिस्तान की अंदरूनी हालत बिगड़ती चली जा रही है, उससे अगर भारत ने कोई पहल नहीं की, तो पाकिस्तान मुख्यतः रूस–चीन के झगड़ों का कार्यस्थल बन कर रह जायेगा। ऐसी स्थित में सबसे अधिक नुकसान भारत को ही होने वाला है।

दक्षिण पूर्व एशिया में वियतनाम की लड़ाई की समाप्ति के बाद जो स्थिति बनने वाली है, वह आखिरकार इन देशों के हित में ही हो, इसकी कोई गारंटी नहीं है। वियतनाम की लड़ाई उधार के हथियारों के जरिये लड़ी गयी दो खेमों की लड़ाई भर बन कर रह न जाये, इसकी कोशिश करनी चाहिए। तीसरे खेमे के निर्माण की गुंजाइश सबसे अधिक इस हिस्से में हो सकती है, बशर्ते भारत इस दिशा में कोई ठोस और गंभीर प्रयास करने का निश्चय करे। मौके पहले भी आये और भारत की सरकार ने उन्हें खोया। अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग के जरिये यह काम कारगर ढंग से किया जा सकता है। आज भी संभव है। पर रूस की विदेशनीति को अपनी विदेशनीति बना कर इस काम को नहीं किया जा सकता। इस तरह हम देख सकते हैं कि लोहिया की विदेशनीति संबंधी अवधारणाएं आज के संदर्भ में भी उतनी ही संगत हैं, जितनी पहले कभी थीं। पर प्रश्न है, क्या भारत के नेतृत्व में वह सूझ-बूझ, साहस और क्षमता है कि इन्हें अमली जामा पहना सके?

हिंदू-मुस्लिम समस्या और भारत-पाक महासंघ

● सदाशिव बागाईतकर

'हिंदुस्तान की विदेशनीति में सोच नहीं है, सिद्धांत नहीं है, सपना नहीं है। जब सपना देखा था तभी अंग्रेजी राज खत्म हुआ और किसी ने बुरा सपना देखा था तभी तो मुल्क का बंटवारा हुआ। अगर अच्छा सपना देखो तो शायद जोड़ की बात शुरू हो।'

डॉ. राममनोहर लोहिया ने लोकसभा के अपने एक भाषण में भारत की विदेशनीति का विश्लेषण उक्त शब्दों में किया था। भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों को लेकर हम पिछले पच्चीस वर्षों से अंधेरे में भटकते रहे हैं। भारत-पाक समस्या का मूल कारण क्या है, इसकी स्पष्ट और सही-सही कल्पना हमारे शासकों को नहीं है। इसलिए हमारी सरकार न तो अपनी विदेशनीति ही निश्चित कर सकी है और न ही अपना दृष्टिकोण ही स्पष्ट कर सकी है। परिणाम यह हुआ कि यदा कदा दिखावटी स्नेह और संबंधों की ऊपरी चर्चाएं तो होती रही हैं, पर अंदर ही अंदर शत्रुता और कटुता पनपती रही है, जो पिछले पच्चीस वर्षों में तीन युद्धों और अनेक छेड़छाड़ों के रूप में उभरी है। इतिहास का थोड़ा सा भी ज्ञान रखने वाले किसी भी व्यक्ति को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि भारत-पाक समस्या दो राष्ट्रों के औपचारिक सौहार्द्र की समस्या नहीं है। इस समस्या का सही रूप है 'हिंदू-मुस्लिम संबंधों की समस्या'। भारत और पाकिस्तान के संबंधों का इतिहास और भविष्य हिंदू और मुसलमानों के इतिहास और भविष्य से जुड़ा हुआ है। इस इतिहास के विषय में परस्पर विरोधी विचार ही हिंदू-मुसलमानों के संघर्ष के कारण हैं। इतिहास के इस गलत बोध के बारे में डॉ. लोहिया ने कहा था, 'आमतौर से कुछ भ्रम हिंदू और मुसलमान दोनों संजोये हुए हैं। हिंदू सोचता है कि पिछले ७००-८०० वर्षों से तो मुसलमानों का राज रहा, मुसलमानों

ने जुल्म और अत्याचार किया। मुसलमान, चाहे वह गरीब से गरीब क्यों न हो, सोचता है कि ७००-८०० बरस तक हमारा राज था, अब हमको बुरे दिन देखने पड़ रहे हैं। हिंदू-मुसलमान दोनों के मन में यह गलतफहमी धसी हुई है। यह सच नहीं है। असलियत यह है कि ७००-८०० वर्षों में मुसलमान ने मुसलमान को मारा है। तैमूरलंग आता है तब चार-पांच लाख आदमियों का कत्ल कर जाता है, तो उनमें तीन लाख मुसलमान होते हैं। पठान मुसलमान थे, जिनका उसने कत्ल किया। कभी अफ्रीदी मुसलमान ने मुगल मुसलमान का कत्ल किया। यह बात मुसलमान के घर-घर में पहुंच जाये, तो पिछले ७००-८०० बरस का वाकया लोगों के सामने अच्छी तरह से आ जायेगा कि यह हिंदू-मुसलमान का मामला नहीं है, यह तो देसी-परदेसियों का झगड़ा है। हमारे मुल्क की तकदीर इतनी खराब रही है पिछले ७००-८०० बरस में कि देसी तो रहा है नपुंसक और परदेसी रहा है लुटेरा और जंगली। यह है हमारे ७००-८०० बरस के इतिहास का सबक।"

पाकिस्तान के निर्माण तक हिंदू-मुसलमानों के संबंधों में जो उतार-चढ़ाव आये, उनसे एकता और अलगाव दोनों ही मनोवृत्तियों का जन्म हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। रजिया, शेरशाह, जायसी देसी मनोवृत्ति और एकता के प्रतीक हैं, जबकि गजनी, गोरी और बाबर परदेसी लुटेरे ही कहे जायेंगे। इसलिए इतिहास की ओर देखने की दृष्टि और मनोवृत्ति को बदले बिना हिंदू-मुसलमानों की समस्या के स्वरूप को समझना अथवा उसे सुलझाना संभव न होगा।

अंग्रेजी शासन और आधुनिक शिक्षा के काल में इस भूमिका को बदलने की दृष्टि से कुछ नहीं किया गया। अंग्रेजों के समय में हिंदू-मुस्लिम समस्या उलझी अधिक, क्योंकि उसके पीछे अंग्रेजी शासकों का स्वार्थ काम कर रहा था— वे अपना राज जमाये रखने के लिए इस समस्या को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते थे। इधर आधुनिक शिक्षा ने हिंदू समाज के शिक्षित वर्ग को नौकरियों और राजनैतिक अधिकारों को पाने के लिए आंदोलन करने को तो प्रोत्साहित किया, पर जन्म के आधार पर टिकी जाति प्रथा की ऊंच-नीच की भावना को तोड़ने की प्रेरणा देने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। गलत ऐतिहासिक दृष्टिकोण और जाति प्रथा के आधार पर विकसित हिंदू समाज हिंदू-मुस्लिम समस्या को हल करने में असमर्थ रहा है और रहेगा। जब तक बहुसंख्य हिंदू समाज सामाजिक समता और सबको समाहित करने की भावना को स्वीकार नही करता, हिंदू-मुस्लिम समस्या सुलझने की नहीं है।

१९४७ में बंटवारे का निर्णय कर के हिंदू-मुस्लिम समस्या को सुलझाने का जो

प्रयत्न किया गया था वह इस समस्या के ऐतिहासिक और सामाजिक सत्यों को नजरअंदाज करके इतिहास पर पर्दा डालने की चालाकी थी। एक तरह से वह इतिहास के गंभीर प्रश्नों का भूगोल के मार्फत उत्तर देने का पागलपन था। इसलिए उसे असफल तो होना ही था। उस समय के कांग्रेसी नेतृत्व में राजनैतिक दूरदृष्टि तो जरा-सी भी नहीं थी, यह शीघ्र ही सिद्ध हो गया। बंटवारे के बाद दंगों का जो चक्र चला उसमें छह लाख से भी अधिक भारतीय मारे गये, करोड़ों लोगों को घर-बार छोड़ कर दूसरी जगहों पर बसना पड़ा। स्वतंत्रता के सूर्योदय को विध्वंस के अंधकार ने ढंक दिया। और जब पं. नेहरू ने अमरीका जा कर कहा, "हमें थोड़ी भी शंका होती कि ऐसा हो जायेगा तो हम बंटवारे को कदापि स्वीकार न करते," तो यह सत्य और भी उजागर हो गया।

यह तो स्वाभाविक ही है कि जो लोग बंटवारे के निर्णय में भागीदार थे, वे बंटवारे की अपरिहार्यता का उच्चार करते फिरें और उसे सत्ता हस्तांतरण और स्वराज्य प्राप्ति के कारण के रूप में इतिहास में लिखाने का प्रयत्न करें। पर इस तथ्य को ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो पायेगी। हिंदू-मस्लिम समस्या को सुलझाने के लिए बंटवारे से हमें क्या मिला? बंटवारा आखिर किस समस्या का समाधान था? क्या यह कायम रह सकेगा? इस प्रश्नों के उत्तर भी खोजने होंगे।

बंटवारे के पश्चात बंगला देश का निर्माण भारतीय उपमहाद्वीप की दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी। उसके परिणाम दूरगामी होंगे। बंटवारे के पश्चात पाकिस्तान नाम का जो कृत्रिम राष्ट्र बना उसका वैचारिक आधार इस्लामी धर्मभावना थी। पर बंगला देश के निर्माण ने इस भावना को ही नष्ट कर दिया। यह कोई अकल्पित घटना नहीं थी। भारत सरकार को या संसार के अन्य राष्ट्रों को इस घटना से आश्चर्य भले ही हुआ हो, पर इतिहास की परिक्रमा का यही परिणाम होगा, इसका आभास डॉ. लोहिया को पहले ही मिल चुका था। फरवरी १९५० में लिखे गये अपने लेख 'हिंदुस्तान पाकिस्तान' में उन्होंने लिखा था," पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के संबंध जैसे आज हैं वैसे ही बने रहना संभव नही है। या तो पूर्वी पाकिस्तान पश्चिमी पाकिस्तान की 'बस्ती' बन कर रह जायेगा या अपने पड़ोसी प्रदेश से उसके संबंध बढ़ते रहने से उस पर से पाकिस्तान का नियंत्रण कम हो जायेगा। पश्चिमी पाकिस्तान के पास इतनी सैनिक शक्ति नहीं होगी कि वह पूर्वी पाकिस्तान को बांध सके। पाकिस्तानी विचारधारा का अपना एक प्रभाव है जरूर, पर वह कितने समय तक टिक सकेगा यह कहना कठिन है। संभावना यही है कि 'बस्ती' बने रहने की जगह पूर्वी पाकिस्तान स्वतंत्र होने की दिशा में कदम उठायेगा।"

पर्वत श्रेणियों, नदियों और समुद्रों की चिरस्थायी सीमाओं को नष्ट करके जिन अप्राकृतिक और कृत्रिम सीमाओं का निर्माण किया गया है वे स्थायी कैसे रह सकेंगी ? इससे तो नवनिर्मित राष्ट्रों में भी नये-नये तनाव और संघर्ष पैदा हो जायेंगे। बंगला देश के निर्माण के बाद शेष पाकिस्तान के सिंध, बलूचिस्तान और सरहदी क्षेत्र के प्रांतोंमें जो नयी परिस्थितियां पैदा हुई हैं उनसे इस कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। इन परिस्थितियों का कारण पाकिस्तान में पिछले पच्चीस वर्षों में आये तरह-तरह के शासनों में ढूढ़ना व्यर्थ होगा। इतिहास, भाषा, प्रदेश आदि की तरफ से आंख मींच कर केवल धर्म की नींव पर राष्ट्र-निर्माण का पागलपन ही उन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार है।

बंगला देश के निर्माण के पश्चात इस उपमहाद्वीप के देशों के, मुख्यतः भारत, पाकिस्तान और बंगला देश के आपसी संबंध कैसे रहें, इसकी चर्चा नये सिरे से शुरू हो गयी है। इस संदर्भ में भारत पाकिस्तान महासंघ की कल्पना यथार्थ है अथवा नहीं, इस पर विचार किया जाना चाहिए।

यह सही है कि पाकिस्तान का निर्माण जिन्ना साहब, कांग्रेस के नेताओं तथा अंग्रेजों के प्रतिनिधि लार्ड माउंटबेटन के बीच हुए समझौते का प्रतिफल है। परंतु क्या इसका अर्थ है कि उसे एक निश्चित ऐतिहासिक सत्य घोषित कर दिया जाये। यदि वह समझौता हिंदू-मुस्लिम समस्या को सुलझाने की दिशा में उठाया गया कदम था, जो कि गलत था, तो फिर कानूनी दांव पेचों का क्या उपयोग ? आज की विश्व राजनीति के संदर्भ में यह बात जरूर सच है कि सैनिक शक्ति का उपयोग करके पाकिस्तान को जीतना अथवा नष्ट करना संभव न होगा। इसलिए भारत को भी ऐसे किसी प्रयत्न के अवलंबन का विचार नहीं करना चाहिए। इस संभावना को दृष्टि से ओझल रखना हितकर न होगा कि सिंध, बलूचिस्तान अथवा सरहद के प्रांतों की जनता पाकिस्तान से नये संबंध स्थापित करना चाहती है और वह उसके लिए सतत प्रयत्नों में लगी हुई है। उनके ऐसा करने के कारण भारत के साथ उनके संबंध भी सुधर सकते हैं। भारत को छोड़ कर संसार के अन्य राष्ट्रों लिए पाकिस्तान का अस्तित्व एक कानूनी सच्चाई है। संभव है कि बड़े राष्ट्र दक्षिण पूर्वी एशिया और हिंद महासागर के क्षेत्र में अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिए तथा संसार में अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए पाकिस्तान को अपनी शतरंजी चालों का एक मोहरा बनाये रखना चाहते हों, पर क्या इससे यह मान लिया जाये कि उसका अथवा उस जैसे अन्य राष्ट्रों का अस्तित्व केवल अंतरराष्ट्रीय राजनीति की सुविधा के लिए ही आवश्यक है ? यदि यह सच भी हो, तो यह भी सच है कि इन नीतियों द्वारा

खड़े किये गये कृत्रिम राष्ट्रों अथवा देशों और जन समूहों को विभाजित करेक बनाये गये राष्ट्र चिरस्थायी नहीं रह सकते। कोरिया, वियतनाम, ताइवान, जर्मनी आदि में जो कुछ चल रहा है, उससे इसकी सत्यता सिद्ध होती है। भारत तथा संसार के अन्य राष्ट्रों का पाकिस्तान के निर्माण की ओर देखने का दृष्टिकोण एक-सा हो ही नहीं सकता। अंग्रेजों ने अपने शासन के दौरान देशी रियासतों को शेष भारत से अलग रखकर भारत में 'ब्रिटिश इंडिया' और 'इंडियन इंडिया' जैसे कृत्रिम भेद पैदा कर दिये थे। इसमें उन्हें शासन में सुविधा भले ही मिली हो, पर यह भेद चिरस्थायी नहीं रह सकता था। उसी प्रकार पाकिस्तान की सीमा को भी पहले की देशी रियासतों के समान ही शासन की सुविधा के लिए बनाया गया एक अंतर्गत राष्ट्र मान कर ही भारत सरकार और भारतीय जनता को अपनी नीति तैयार करनी चाहिए।

पाकिस्तान के साथ अच्छे पड़ोसी बन कर रहने के लिए आज तक जो भी समझौत हुए हैं उनसे कोई लाभ नहीं हुआ है। समझौतों की मूल भावनाएं कभी भी सामने नहीं आ पायीं। अल्पसंख्यक समाज, व्यापार, विदेशनीति व सीमा संबंधी प्रश्नों पर पैदा हुए सभी तीव्र मतभेद अभी तक कायम हैं। यह मानना गलत होगा कि पाकिस्तान के साथ हमारे संबंध कश्मीर के कारण बिगड़े हैं। कश्मीर के संबंध में कोई प्रभावी कदम उठा भी लिया जाता, तो भी भारत-पाकिस्तान के बीच का शत्रुता-भाव नष्ट नहीं हो पाता। मैत्री व एकता अथवा शत्रुता व अलगाव ही भारत पाक संबंधों का मूल स्वरूप है। सर्वधर्म समभाव या इह लोकवादी राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर उनका मूल झगड़ा है। पाकिस्तान का निर्माण हो जाने के बाद भी सरहद के दोनों ओर ऐसे लोग मौजूद हैं, जिनकी निष्ठा सरहद के दूसरी ओर है। इससे बंटवारे की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। बंटवारे के पश्चात जिन्ना साहब की सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की भाषा और मुस्लिम लीग की 'मुस्लिम होमलैंड' की मांग को स्वीकार कर लेने के बाद भी हमारे कांग्रेसी नेताओं के सतत वक्तव्य कि हमने धर्म के आधार पर विभाजन स्वीकार ही नहीं किया, यह सब आत्मप्रवंचना नहीं तो और क्या है? अपनी जनता के साथ यह धोखादेही अपने क्रूर पापों को छिपाने के लिए प्रयत्न मात्र ही तो है, जो दोनों ओर के नेता कर रहे हैं। पाकिस्तान के अस्तित्व को चिरस्थायी मान लेने की भारत सरकार की भूल और धार्मिक आधार पर राष्ट्रनिर्माण की जिन्ना साहब तथा उनके उत्तराधिकारियों की जिद-दोनों ही मौके का लाभ उठाने के तरीके थे। बंगला देश के निर्माण ने इस सत्य को और भी स्पष्ट कर दिया है। जिन्होंने यह मान कर कि हिंदू-मुसलमानों की समस्या बंटवारे

की खाई में गिरकर नष्ट हो जायेगी, इतिहास को धोखा देने का प्रयत्न किया था, उन्हें बंगला देश के निर्माण की ऐतिहासिक सत्यता ने गुनहगारों के कटघरे में ला खड़ा किया है। बंगला देश का निर्माण धार्मिक राष्ट्रवाद का दारुण अंत है। भारत में ऐसे विद्वान भी हैं जिनकी मान्यता है कि भारत का इतिहास अंग्रेजों के शासन से ही प्रारंभ होता है। बंगला देश के निर्माण को भारतीय उपमहाद्वीप में अस्थिरता और विघटन का कारण मान कर पिछले डेढ़ सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन द्वारा स्थापित एकता की समाप्ति पर आंसू बहानेवाले ये लोग इसे ही आधुनिक इतिहास मानते हैं। परंतु जो लोग इतिहास को ऊपर ऊपर से न देख कर उसके मूल प्रवाह को देखते हैं, उन्हें बंगला देश के निर्माण में विघटन के चिन्ह दिखाई नहीं देंगे। जो हम करें अथवा जो हमारे जीते जी घट जाये उसे ही इतिहास मानने का विकृत अहंकार हमारे नेताओं में हो सकता है, परंतु सचाई यह है कि ऐतिहासिक सत्य और काल को जोड़ने वाले सूत्र कुछ समय तक अस्पष्ट भले ही रह जायें, पर इतिहास को इस प्रकार सीमित कदापि नहीं किया जा सकता। बंगला देश का निर्माण भारतीय उपमहाद्वीप के विघटन की शुरूआत न होकर बिखराव को रोक कर भारत, पाकिस्तान और बंगला देश की एकता की प्रक्रिया का प्रारंभ है। समय आने पर इस उपमहाद्वीप में नेपाल, सिक्किम और भूटान को भी मिलाकर एक बलवान महासंघ बनाने की ओर कदम उठाया जा सकता है। पहले महासंघ और फिर किसी न किसी रूप में एक राष्ट्र बनने का क्रम अपरिहार्य है। इसे ध्यान में रख कर ही भारत–पाकिस्तान–बंगला देश के संबंधों में सुधार होना चाहिए।

यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि बंगला देश का निर्माण न तो कोई ऐतिहासिक दुर्घटना है और न कोई अपवाद ही। भाषा और राजनैतिक अधिकारों के लिए पूर्वी बंगाल में चल रहे आंदोलन की ओर बरसों तक भारत सरकार ने उदासीनता दरशायी और भारतीय जनता ने भी कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया। यह ठीक है कि बंगला देश के निर्माण में हमारा हाथ कम नहीं रहा, पर हम हृदय पर हाथ रखकर यह नहीं कह सकते कि जो कुछ हमने किया वह सांगोपांग अध्ययन करने के पश्चात ही किया था। शेष पाकिस्तान अब एक अस्थायी सत्य रह गया है। स्थायी सत्य तो एक संघ भारत ही है। विभिन्न स्तरों पर विसंगत और परस्पर विरोधी दिखनेवाले इस सत्य में सामंजस्य निर्माण करने के लिए कुशलता, परिपक्वता और राजनैतिक सावधानी की आवश्यकता है। भारत में हिंदू–मुसलमानों के आपसी संबंधों में अधिकाधिक सुधार, हिंदू सांप्रदायिकता पर कठोर प्रहार, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेशों का विकास व उनके साथ समता की भावना, सत्ता का

विकेंद्रीकरण लोकभाषा का उपयोग आदि उपायों की सफलता से ही भारत–पाक और बंगला देश के महासंघ की स्थापना की संभावना बढ़ेगी।

यातायात, विदेशों से संबंध, सुरक्षा आदि से प्रारंभ करके महासंघ के निर्माण की शुरुआत करनी होगी और अंत में समान नागरिकता तक पहुंचना होगा। इस उपमहाद्वीप के सभी देशों का महासंघ और फिर एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग लंबा जरूर है। परंतु एक बार इस मार्ग के अवलंबन का निश्चय हो गया तो फिर उनके बीच कितने मुकाम हों अथवा कितने हिस्सों में वह मार्ग पूरा किया जाये, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं रह जायेगा। कश्मीर जैसी समस्या भी, जो आज तक सुलझायी नहीं जा सकी, इस निराले मार्ग से सुलझ सकेगी। अपना अलग देश होने का आग्रह भी समय के साथ समाप्त हो सकेगा।

महासंघ के उद्देश्य को सफल करके आगे चल कर एक राष्ट्र के स्वप्न को साकार करना हो तो पहले भारत राष्ट्र के अंतर्गत अनेक राज्यों में से एक राज्य होने के विचार को मान्य करना होगा। परंतु जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक भारत को अपनी सीमा और अपने हित–संबंधों पर मजबूती से डटे रहना होगा। पाकिस्तान की पिछले पच्चीस वर्षों की अविवेकी नीति का एक कारण उसका अपनी सैनिक शक्ति पर झूठा घमंड था। अब यह घमंड नष्ट हो जाना चाहिए। पर हो सकता है कि चीन और अमरीका उसे अब भी उकसाते रहें और सैनिक सहायता की तैयारी दिखा कर उसे भड़काते रहें। यह भी संभावना हो सकती है कि ऐसी उधारी से पाकिस्तान के शासकों में विवेक उत्पन्न हो जाये और वे सत्य परिस्थिति को समझ लें कि सैनिक दृष्टि से वह कभी भी भारत की बराबरी नहीं कर सकता और यह भी कि जरूरत पड़ी तो भारत एक साथ अपनी दोनों सीमाओं की रक्षा करने में समर्थ है। यदि ऐसा हो सका, तो महासंघ बनाने के काम को गति मिलेगी। अपनी शक्ति का सही उपयोग करने के साथ–साथ भारत पर यह भी जिम्मेदारी है कि वह अपने आचरणों द्वारा छोटे राष्ट्रों के साथ उदारता और समता का व्यवहार करने का उदाहरण प्रस्तुत करे। इस संधिकाल में भारत मजबूत राष्ट्र के रूप में हिंदू–मुस्लिम समस्या तथा एक–दूसरे के नागरिकत्व के संबंध में कोमल और उदार दृष्टिकोण अपना कर ही महासंघ की दिशा में कदम उठा सकेगा। अपनी विदेशनीति में से उसे काल्पनिक विचारों और कमजोर आचरणों को दूर कर देना होगा। बंगला देश के साथ अपने संबंधों में जो अड़चनें आ रही हैं वे भी इससे दूर हो सकेंगी। बंगला देश से अपने संबंध सुधरते गये और अड़चनें आना बंद हो जायें, तो बहुत संभव है कि अगली कार्यवाही में बहुत ही कम समय लगे।

विभाजन जैसे नपुंसक काम को करने वालों ने भी अपराध करते समय सोचा था। विभाजन का प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस समिती ने १४–१५ जून को मंजूर किया था, जिसमें कहा गया था— "आज हम जिस हिंदुस्तान को देख रहे हैं वह जमीन, पहाड़ों और समुद्रों द्वारा बना है। कोई भी मानवी शक्ति हिंदुस्तान के इस स्वरूप को बदल नहीं सकेगी। हिंदुस्तान के इस स्वरुप की हम पूजा करना सीखे हैं। यही रूप हमारे हृदयों और विचारों में रहेगा। द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत का सभी लोक तिरस्कार करेंगे।"

इस प्रस्ताव का देश को तोड़नेवाला विचार ही आजतक कार्यक्रम रहा है। देश को जोड़नेवाला जो दूसरा विचार है उसे हमारे शासकों ने आजतक पर्दे के पीछे छिपाये रखा है। बंगला देश को निमित्त बनाकर परदे के पीछे का यह विचार एक बार फिर इतिहास की कार्यक्रम–पत्रिका पर लिखा जा चुका है। हमें आशा करनी चाहिए कि देश जोड़ने के इस पवित्र कार्य की शुरुआत करने के आह्वान को अनसुना करने की मूर्खता हम नहीं करेंगे।

धर्म और क्रांतिकारी राजनीति में संगति की खोज

● डॉ. युगेश्वर

धर्म और क्रांतिकारी राजनीति का मेल कुछ अटपटा लगता है। क्योंकि हम सतही सोचते हैं। दुनिया का मालूम नहीं। भारत में क्रांतिकारी आंदोलन धर्म के साथ रहा है। कम से कम आधुनिक युग में। हनुमान के हाथ में गदा, कृष्ण को चक्र, राम को बाण, काली को तलवार देनेवालों की बात इस वक्त नहीं करनी है। इस समय तो शुरुआत लोकमान्य तिलक, स्वामी दयानंद सरस्वती, केशव चंद्र सेन जैसे नेताओं से करनी है। तिलक की राजनीति क्रांतिकारी थी। किंतु तिलक धार्मिक नेता थे। तिलक और गांधी ने गीता को राजनीति का ग्रंथ बनाया। बनाया इस अर्थ में कि गीता की शुरुआत चाहे राजनीतिक रही हो, किंतु आगे लोक में उसकी राजनीतिक मान्यता का विस्मरण हो गया था। गीता का पाठ केवल व्यक्ति की परलोक प्राप्ति या जीवन में पवित्रता के लिए रह गया था। देश, समाज और पूरी मानवता की भौतिक मुक्ति का दर्शन उससे निरपेक्ष था। उक्त नेताओं ने गीता को समूह मानव की मुक्ति का आधार बनाया। यह भी याद रखना होगा कि ये नेता अपने युग के क्रांतिकारी थे। गांधी तो आज भी सबसे अधिक क्रांतिकारी हैं। अगली अनेक शताब्दियों तक क्रांतिकारी रहेंगे। हां, यह सही है कि उनके अनुयायी आज क्रांतिकारी नहीं हैं। किंतु अनुयायियों के आधार पर किसी सिद्धांत को कहां तक देखेंगे ? अनुयायी तो घट-बढ़ और बदल भी सकते हैं। अनेक हथियारबंद क्रांतिकारियों ने गीता को अपनाया, आदर्श बनाया था। अरविंद एक आतंकवादी थे। किसान आंदोलन के अनेक चोटी के नेता संन्यासी रहे हैं। स्वामी सहजानंद सरस्वती और स्वामी भगवान किसान आंदोलन के जन्मदाताओं और संचालकों में रहे हैं।

ऐसी स्थिति में धर्म और क्रांतिकारी आंदोलन में एकता की बात में दुविधा

क्यों है? इस विषय पर चर्चा बताती है कि कहीं न कहीं अटक है। इस दुविधा के कुछ तात्विक कारण हैं। प्रथम है राजनीति पर मार्क्सवादी प्रभाव। दूसरा है भोगवादी प्रभाव। और तीसरा है राजनीति में सांप्रदायिक प्रभाव। भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन के इतिहास को देखिए। अनेक कथित सिपाही विद्रोहों के मूल में धार्मिक विश्वास हैं। अनेक बार सिपाहियों नें इसलिए विद्रोह कर दिया कि नये नियम धर्म विरुद्ध थे। यहां यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ऐसे सिपाहियों के विद्रोह में केवल धर्मभाव था। नहीं, वे लोग भीतर ही भीतर अंग्रेजी राज से जल रहे थे। परेशान थे। ऊब रहे थे। अंग्रेजों द्वारा धर्म पर आघात ने बारूद में चिनगारी का काम किया। इस तरह के आंदोलनों का लंबा सिलसिला है। धर्म के साथ क्रांतिकारी राजनीति के योग के बारे में गांधी से पूछा गया—'क्या हम पूछ सकते हैं कि खिलाफत आंदोलन में पड़ने और उसके फलस्वरुप थोड़े-से धर्मांध मुसलमानों के हाथ में महासभा पड़ जाने का क्या अर्थ हुआ है?...क्या आपको कभी इसका भान हुआ है कि जबसे अहिंसा के सिद्धांत की बदौलत कांग्रेस में आप मुखिया बने तभी से सांप्रदायिक झगड़े बराबर बढ़ते गये?' गांधी ने उत्तर दिया—'खिलाफत आंदोलन में पड़ने से दोनों जातियां सबल हुई और वह सामूहिक चेतना उत्पन्न हुई है, जिसके और तरह से होने में एक जमाना लग जाता। अगर सच्ची एकता कभी होगी, तो मेरी ही शिक्षाओं से होगी।'* स्पष्ट है यह प्रसंग गांधी द्वारा मुसलमानों के खिलाफत आंदोलन में योग देने का है। खिलाफत धार्मिक आंदोलन था। प्रश्नकर्ता ने गांधी की क्रांतिकारी राजनीति का उसमें योग प्रतिक्रियावादी माना था। राजनीति में सांप्रदायिक प्रभाव के कारण गांधी की यह विचारधारा आगे प्रवाह नहीं दिखा सकी। वरना उसकी शुरुआत अच्छी थी।

आगे मार्क्सवादी प्रभाव के कारण लोगों ने समझा जीवन में धर्म की कोई भूमिका नहीं है। धर्म ऊपरी ढांचा है। आर्थिक सुधार के बाद सभी धार्मिक समस्याओं का सुधार हो जायेगा। यह समस्या से पलायन था। इस पलायन ने राजनीति में सांप्रदायिक प्रभाव को रोकने में कोई कारगर काम नहीं किया। दूसरी ओर राजनीति पर सांप्रदायिक रंग चढ़ता गया। विशेषकर मुस्लिम राजनीति पर। हिंदू सांप्रदायिकता बहुत कमजोर थी। किंतु इतनी अवश्य थी, जिससे मुस्लिम सांप्रदायिकता को खाद मिलती रहे। दोनों सांप्रदायिकताओं के नेता धार्मिक न थे। मन, वचन, धर्म के प्रति उनमें कोई आस्था न थी। ये अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त पश्चिमी गुरुओं के शिष्य थे। ये बहुत-कुछ अपने धर्मों से उखड़े लोग थे। धर्म की जो उदार और मानवतावादी

---

*अहिंसा और सत्य; सं. श्री. रामनाथ सुमन पृ. १७२.

सीख गांधी दे रहे थे उसके मुकाबले ये अत्यंत संकोची और अनुदारवादी थे। अपने संप्रदाय, जाति और रूढ़ परंपराओं के भ्रष्ट कमरों में बंद लोगों के मित्र। इनके दिलों में ईश्वर की अखंडता नहीं थी। जो अखंडता मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है, मनुष्य को क्षुद्रताओं से उठाती है, माया के वैर–विरोध को रोकती है, बिल्कुल नहीं थी। इसके मुकाबले ये अंग्रेजी कूटनीति के शिकार थे। दूसरी ओर कांग्रेस के हिंदू मुसलमान दोनों ही अधिक धार्मिक विचारों के थे। सीमांत गांधी हों या मौलाना आजाद वे जिन्ना और जफरुल्ला से अधिक धार्मिक थे। गांधी का तो कहना ही क्या ? गांधी तो आज के सर्वश्रेष्ठ हिंदू थे। जो रूढ़िवादिता को ही धर्म मानते है उन्हें यह बात समझ में नहीं आयेगी। जैसे धन का अच्छा उपभोक्ता वह है जो उसे व्यापार में लगाता है, उद्योग चलाता है, न कि लोककथाओं का वह सांप जो गड़े धन पर कुंडली मारे है। गांधी ने न केवल धर्म धन की रक्षा की, बल्कि उसे आज के मनुष्य के लिए उपयोगी भी बनाया। इसके मुकाबले रूढ़िवादी नेताओं ने धर्म को जमीन में गाड़ा है। उसे जनता से छीनकर खुदाई का विषय बनाया है। जिन्हें धर्म का नाम लेते ही सांप्रदायिकता का भय लगता है उन्हें इन बातों पर ध्यान देना होगा। धर्म मनुष्य को आस्थावान और ओजस्वी बनाता है। यह मनुष्य को देश–काल के संकोच से उठाता है। राजनीति देश काल से गहरे में जोड़ती है। दोनों की जरूरत है। युग्म चिंतन का मनुष्य ही कुछ बड़ा कर पाता है। केवल देश–काल से जुड़ना अपने को सीमित कर लेना है। इतना सीमित कि आदमी कल्पनाहीन हो जाये। उसका स्वप्न मर जाये। वह कुएं का मेंढ़क हो जाये। क्योंकि किसी भी व्यक्ति के लिए देश-काल तो सीमित है। धर्म ससीम को असीम से जोड़ने की प्रक्रिया का नाम है। प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है। इससे परे भी एक दुनिया है, ऐसी दुनिया जहां देश–काल का संकोच छूट जाता है। आदमी आदमी का नया रिश्ता शुरू होता है। आदमी और वस्तु के लगाव में फर्क आ जाता है।

संप्रदायवादियों ने धर्म को बदनाम किया है। ऐसी बदनामी की जगहें राजनीति में भी कम नहीं। शायद सबसे अधिक। बहुतेरे राजनीति का अर्थ शुद्ध बदमाशी मानते हैं। झूठ, धोखा, हत्या, शोषण जिसके स्वाभाविक अंग हैं। किंतु जैसे राजनीति के लिए ये अनावश्यक हैं उसी प्रकार धर्म के लिए विद्वेष, दूसरी उपासना पद्धतियों विचारों के प्रति असहिष्णुता जैसी चीजें बेकार हैं। सच यह है कि राजनीति और धर्म दोनों में बुराई है। दोनों ही जीवन की आवश्यक संस्थाएं हैं। संयोगवश भारतीय राजनीति के सबसे महत्वपूर्ण आचार्य का नाम कौटिल्य है। इससे यह धारणा और पुष्ट हुई कि राजनीति मूलतः कुटिल है। कौटिल्य की राजनीति में कुछ चीजें ऐसी हैं भी। उनके दूसरे नाम चाणक्य से जिन घटनाओं का उल्लेख है उनके पीछे अनेक

षड्यन्त्र हैं। बाद में बीच-बीच में राजपुरुषों द्वारा होनेवाली घटनाओं ने राजनीति के प्रति अवधारणा को षड्यन्त्र बना दिया है। ऐसी ही स्थिति दुनिया के अन्य हिस्सों में है। इस संबंध में एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि जहां भी धन, सत्ता और प्रतिष्ठा है, वहां द्वेष, षड्यंत्र, धोखा जैसी चीजें हैं, इसीलिए आजकल राजनीति का एक अर्थ राज्य संचालन से अलग हो गया है। जो राज्य का विषय नहीं भी है। किसी सामान के बंटवारे में, शिक्षा संस्थाओं में, सहकारी समितियों आदि की स्पर्धाओं में भी लोगों को राजनीति दिखती है। राजनीति राज संचालन की नीति से हट कर चालबाजी का पर्याय हो गयी है। इसके लिए उपयुक्त शायद कूटनीति शब्द होता। धूर्तों और ठगों ने राजनीति, कूटनीति और चालबाजी को एक करने की कोशिश की है। संप्रदायवादियों ने धर्म का अधिक उपयोग इसलिए भी किया है कि यह मनुष्य की मूल चिंता है। कोई व्यक्ति राजनीति के प्रति अज्ञ हो सकता है, किंतु धर्म के प्रति सावधान रहता है। राजनीतिक दल बदल की अपेक्षा धार्मिक बदल बड़े पैमाने पर होता है। स्थायी होता है। एक बार बदला तो पीढ़ियों तक चला। राजनीतिक दल-बदल तो दिन में कई बार होता है। संप्रदायवादी में न तो कोई विशिष्ट आदर्श होता है, न किसी उच्च आदर्श के लिए त्याग भाव या दृढ़ मन। वह आसान रास्ते खोजता है। किन आधारों पर अपना नेतृत्व जमा सकेगा। गांधी या दूसरे राष्ट्रीय नेताओं के मुकाबले सांप्रदायिक नेताओं कि साधारणता स्पष्ट है। सांप्रदायिक नेताओं की सफलता के आधार पर निर्णय करना ठीक नहीं। सफलता का कारण ब्रिटिश कूटनीति और दो संप्रदायों का आपसी असद्भाव है।

मार्क्सवादियों द्वारा धर्म विरोध के कई महत्वपूर्ण कारण थे। पहला कारण तो मार्क्स के युग में यूरोप के पादरियों और चर्चों की भूमिका थी। पादरी और चर्च प्रायः शोषक वर्गों का साथ देते थे। किंतु यह केवल यूरोप की बात नहीं। धर्म संस्थाएं आमतौर पर शोषकों के साथ रहती हैं। क्यों रहती हैं? इसलिए कि वे अंधमानवतावादी होती हैं। वे भूल जाती हैं कि मानवतावाद के नाम पर मानवी गंदगियों का समर्थन नहीं किया जा सकता। आर्ष, परंपरा और प्रमाण में अतिविश्वास के कारण वे युग के विरोधाभास को भूल जाती हैं। वे यथास्थिति, जिसमें शोषण मुख्य है, को प्रभु की इच्छा मान लेती हैं। उनका ध्यान धर्म के शाश्वत और निर्गुण तत्वों से हट कर इतना सगुण हो जाता है कि संप्रदाय, मठ, शिष्य और संपत्ति में उन्हें धर्म दिखने लगता है। क्योंकि परंपरावादी रूढ़ धर्म आग नहीं बासी पानी है, जो व्यक्ति की प्यास को कुछ-कुछ बुझा सकता है, किंतु समाज की बुराइयों को नहीं जला सकता। और जैसे पानी में शैवाल और घर में धूल बिना प्रयास के

भी जमते हैं उसी प्रकार किसी भी धर्म में बुराई आ ही जाती है। और कहीं अगर धर्म या राजनीति की विचारधारा में नियतिवाद है तब तो बुराई का आना निश्चित है। नियतिवाद बुराई को विकास या सृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता मानता है।

मार्क्स की शिक्षा का आधार तत्कालीन जर्मन भौतिकवाद है। इनके प्रभाव से मार्क्स भी भौतिकवादी बने। भौतिकवाद के कारण मार्क्स समाज की सीधी सपाट व्याख्या कर सके। इस उलझनपूर्ण सृष्टि की दो और दो चार जैसी व्याख्या करनेवाला व्यक्ति धन्य है। मार्क्स ऐसे ही धन्यों में थे। जर्मन भौतिकवादियों के प्रभाव में मार्क्स ने अपने को भौतिकवादी कहा। अपने दर्शन को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद नाम दिया। मार्क्स की दृष्टि में भौतिकवाद धर्म का अविचल शत्रु है।*

मार्क्स के अनुसार कम्युनिस्ट होने के लिए भौतिकवादी होना अनिवार्य है। भौतिकवादी ही सच्चा कम्युनिस्ट है। किंतु भूलना नहीं होगा कि मार्क्स दार्शनिक और राजनीतिज्ञ भी हैं। इसलिए उन्हें कहना पड़ा कि भौतिकवाद में विश्वास न रख कर भी कोई आदमी कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनता है, तो यह बननेवाले की जिम्मेदारी है। मतलब कि कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य गैरभौतिकवादी भी हो सकता है। ऐसे ही मार्क्सवादी धर्म की आजादी स्वीकार करता है। वह स्वयं भौतिकवादी है। किंतु वैयक्तिक जीवन में धर्म को मानने की स्वतंत्रता देता है। आगे चल कर तो पादरियों और धर्म संस्थाओं को कम्युनिस्ट राज्यों में प्रोत्साहित भी किया गया क्योंकि इन संस्थाओं ने मालिक के अनुसार ही अपना स्वर बदल दिया। ऐसा भी कहा जा सकता है कि राज्य के रूप में मार्क्सवादी धर्म निरपेक्षता से आगे नहीं जाता। हां, भारत के धर्म निरपेक्षतावादियों से थोड़ा भेद है। भारतीय धर्म निरपेक्षतावादी धर्मभीरु हैं, जबकि मार्क्सवादी आरंभ से अनीश्वरवादी होता है। होने की कोशिश करता है। साम्यवाद जिस पूंजीवादी दर्शन का विकास है वह भी मार्क्सवादी दृष्टि में धर्म विरोधी था। जैसे जैसे पूंजीपति वर्ग बढ़ता और समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ करता गया, वैसे वैसे भौतिकवाद ने अधिक जोर पकड़ा। पूंजीपति वर्ग ने उसको चतुरतापूर्वक सामंतवाद और चर्च के विरुद्ध संघर्ष में अपना बौद्धिक अस्त्र बनाया।"†

भोगवादियों द्वारा धर्म के विरोध का कारण स्पष्ट है। कोई भी धर्म अनियंत्रित भोग की स्वीकृति नही देता। संयम, उदारता सद्‌गुण सादगी जैसी चीजें किसी भी धर्म के मूल में हैं। ये भोगवादी के मार्ग में बाधक हैं। भौतिक-

---

* वि. अफनास्येव : मार्क्सवादी दर्शन पृ ११.

† वि. अफनास्येव : पृ. २६.

वादी और भोगवादी इस सवाल पर एक हो जाते हैं। भारत के प्राचीन भौतिकवादी जैसे रहे हों, किंतु उनके बारे में प्रचलित उक्तियां भोगवादी हैं। भोगवादी ही उन्हें अपने समर्थन में उद्धृत करते हैं—**पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत पतित न भूतले**। धर्म निरपेक्षता के नाम पर भी भोग फैलाया जाता है। धर्म निरपेक्षता का प्रयोग धर्म और नैतिकता के विरोध के लिए होता है। जब निरपेक्षता, भोगवाद और भौतिकवाद एकत्र हों तो उनका प्रभाव व्यापक और गहरा हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्रांतिकारी मार्ग को रोकते हैं। क्रांतिकारी राजनीति उनके विरोध में खड़ी होती है। दुनिया की सभी क्रांतियों के कुछ प्रमुख पक्षों में भोगवाद का विरोध रहा है। यह हो सकता है कि आगे चल कर ये क्रांतियां स्वयं भोग में फस जायें। रूसी साम्यवाद ने जार के भोग का, कांग्रेस ने अंग्रेजों और राजाओं-जमींनदारों के भोग का और संविद ने कांग्रेस के भोग का विरोध किया। आगे ये विरोधी स्वयं भोग में फंस गये। किंतु इससे क्रांतिकारी राजनीति द्वारा भोग के विरोध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह इसलिए भी कि सभी क्रांतिकारी राजनीति आरंभ में, कुछ अप्रत्यक्ष ही सही, नैतिक आधारों पर खड़ी होती है।

राजनीति में धर्म की भूमिका एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसे प्राचीन भारत ने तो बहुत पहले समझा था। वे तो धर्म और राजनीति (अर्थ) को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते थे। वाल्मीकि ने राम को राष्ट्र का पर्याय माना है—

न तद्भवितो राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति

(वह राष्ट्र नहीं हो सकता जहां राम राजा नही हैं। वह वन भी राष्ट्र है जहां राम निवास करते हैं।) आधुनिक समाजशास्त्रियों में मैक्स वेबर, सोरोकिन आदि ने समाज में धर्म की भूमिका पर विस्तार से विचार किया है। रूसो ने धर्म को दो भागों में बांटा था— मनुष्य का धर्म और नागरिक का धर्म। पहला बहुत कुछ निर्गुण और सिद्धांतों वाला है। दूसरा सगुण और देश कालबद्ध। एंडर्सन ने धर्म द्वारा किये जानेवाले कार्यों को दो भागों में बांटा है--

१. समाज के लिए— उच्चतम मूल्यों के लिए प्रेरणा। सामाजिक स्तर को स्थिर रखना। सामाजिक नियंत्रण का अभिकर्ता। लोक-कल्याणकारी कार्यों को प्रोत्साहित करना। मित्रता। साहित्य, कला, वाद्य की अभिरक्षा। २. व्यक्ति के लिए— भावात्मक और मानसिक सुरक्षा का मूल अभिकर्ता। वैयक्तिक उद्देश्यों

की प्राप्ति में नैतिक मूल्यों पर जोर देना। जीवन की हताशाओं को बर्दाश्त करने की क्षमता पैदा करना।*

इतने महत्वपूर्ण और व्यापक उद्देश्यों के कारण ही राजनीतिज्ञ गांधी को धर्म प्रिय है। किंतु बात इससे भी आगे जाती है। धर्म का इतिहास संपूर्ण मानवता का इतिहास है। धर्म को सामान्यत परलोक में सुख की बात माना जाता है। विवेकानंद की दृष्टि में— धर्म इहलोक और परलोक में सुख-भोग की प्रवृत्ति देता है। ‡ गांधी विचार से धर्म एक सामाजिक तथ्य है— यह समाज कि उपलब्धि है और इसका लक्ष्य संश्लिष्ट सामाजिक जीवन है। यह पारलौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का माध्यम नहीं है, अपितु समाज सेवा का दर्शन तथा सामाजिक संरचना के नियमों का निकाय है।' इसलिए गांधी कहते हैं — 'मेरे लिए धर्म विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है, द्वेष करनेवाला और लड़नेवाला धर्म नहीं है, बल्कि विश्वव्यापी सहिष्णुता धर्म है। नीति शून्य राजनीति सर्वस्था त्याज्य है।' $

उसी पुस्तक में गांधी का उद्धरण है–राजनीति धर्म अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है, क्योंकि उसमें आत्म का हनन होता है। यह सब इसलिए कि गांधी बुद्धिविरोधी धर्म में विश्वास नहीं करते थे। "मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता, जो बुद्धि को न जंचे और नैतिकता के विरुद्ध हो।"

डॉ. राममनोहर लोहिया ने आधुनिक समाजशास्त्र की भाषा में कहा है — "देश की एकता और समाज के शुद्धि संबंधी कारणों और आवश्यकताओं से संसार के सभी महान धर्मों की उत्पति हुई है। अलबत्ता, धर्म इन आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर मनुष्य को पूर्ण करने की चेष्टा करता है। किंतु भारतीय धर्म इन आवश्यकताओं से जितना ओत प्रोत है उतना और कोई धर्म नहीं।"§

इन पंक्तियों में डॉ. लोहिया ने धर्म के बारे में सब कुछ कह दिया। लोहिया की यह दृष्टि पश्चिमी समाजशास्त्रियों और गांधी के पास है, किंतु मार्क्सवाद से

---

* 'समाजशास्त्र' जी. के. अग्रवाल की पुस्तक भा. २. पृ. २२८

‡ विवेकानंद ग्रंथावली खंड १०

$ शंभूरत्न त्रिपाठी : गांधी: धर्म और समाज पृ. १३९

§ डॉ. राममनोहर लोहिया : भगवान सिंह पृ. १०४

पूर्ण असहमतिवाली। इस दृष्टि के कारण, लोहिया ने राम, कृष्ण, शिव का इतिहास–समाज सापेक्ष अध्ययन किया। राम, कृष्ण, शिव के प्रति पूज्य भाव का विरोध नहीं। उसकी चर्चा भी नहीं की, किंतु इनके कार्यों और व्यक्तित्व का गहरा विश्लेषण किया। लोहिया की दृष्टि में अवतार का नाम नहीं, कर्म उपयोगी है। जो कर्म कि आज की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जो लोग मार्क्स और उसके वादियो कों ही क्रांतिकारी मानते हैं उन्हें धर्म के संबंध में दूसरे क्रांतिकारियों की यह भूमिका नहीं समझ में आयेगी। असल में तो धर्म संबंधी मार्क्स का अध्ययन–विश्लेषण तत्कालीन जर्मन अध्येताओं की दृष्टि से भी पिछड़ा हुआ है, दूसरे देशों के क्रांतिकारियों की बात तो छोड़ ही दें। एक उदाहरण रूस से देना होगा। तोलस्तोय क्रांतिकारी साहित्यकार थे। किंतु वे कट्टर धार्मिक विश्वासों के व्यक्ति थे। धर्म के संबंध में गोर्की और लेनिन में मतभेद था। सांस्कृतिक जीवन से संबद्ध होने के कारण गोर्की धर्म की ओर झुका था। तोलस्तोय को क्रांतिकारी होने का प्रमाणपत्र लेनिन की ओर से मिल चुका है-'इसी पवित्र पादरी परिषद ने तोलस्तोय को धर्म बहिष्कृत किया था। यह अच्छा ही हुआ। जिस दिन जनता न्याय करने बैठेगी, उस दिन तोलस्तोय का यह वीरोचित कारनामा याद रखा जायेगा और पादरियों के लिबास में इन सरकारी अफसरों, ईसा मसीह के इन फौजदारों तथा इन काले धार्मिक ज़ल्लादों को अपने किये का फल मिलेगा, जो यहूदियों के कत्ले-आम और तरह–तरह के अत्याचार करने में जार की यमदूत सभा के गुंडों के गिरोह की पीठ ठोकते रहे। *

धर्म और राजनीति के झगड़े में शायद धर्मचालकों का हीनभाव और राजनीति का अहं भी है। जहां तक भ्रष्टाचार, उत्पीड़न और हिंसा जैसी चीजों का सवाल है, ये तो राजनीति में ही मुख्य हैं, क्योंकि ये सब तो सत्ता के प्राय: सहयात्री हैं। धर्म संस्थाओं में ये चीजें अप्रत्यक्ष रहती हैं। वशिष्ट तो अन्याय का समर्थन कर सकते हैं। योजना पर मुहर लगा सकते हैं। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राम को वन देने का आरंभिक निर्णय तो दशरथ का है। वशिष्ट दृढ़ हुए तो इतना ही कह सकते हैं—सौंपेहु राज राम के आये। जोकि वेतनभोगी मंत्री नहीं कह सके। राज्य कानून बनाता है। धर्म पवित्रता, विचार और उच्च मूल्यों के उद्देश्यों द्वारा समाज को दृढ़ बनाता है। क्रांतिकारी का मुख्य उद्देश्य राज्य की सत्ता से लड़ना है। धर्म जहां सामाजिक जड़ता का रूप लिये है वह भी राज्य सत्ता है।

---

* व्ला० इ० लेनिन तोल्स्तोय संबंधी लेख पृ० १७

हरिजनों को मंदिर में न जाने देना, औरत को मस्जिद जाने से रोकना—यह एक प्रकार की राजसत्ता है। क्रांतिकारी को इनका विरोध करना होता है। जो क्रांतिकारी इनसे तटस्थ रहता है वह राजसत्ता का प्रकारांतर से समर्थक है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और समता का अदृश्य विरोधी। सच्चा क्रांतिकारी धर्म में राजनीतिज्ञ है। राजनीति में धार्मिक है। आस्तिकों के बीच धर्मनिरपेक्ष है। धर्म निरपेक्षतावादियों की दृष्टि में घोर धार्मिक है, शायद खतरनाक धार्मिक। सत्तावादी, भोगवादी और मानवता का क्रूर दमनक संसार को भ्रष्ट और अपवित्र देखना चाहता है। क्रांतिकारी, परिवर्तनवादी संसार को ईमानदार, शीलवान्, चरित्रवान् बनाना चाहता है।

धर्मयुक्त राजनीति की संभावनाएं

● प्रमोद कुमार गुप्त

धर्म और राजनीति के बारे में कुछ कहने या सोचने के साथ ही कई सवाल एक साथ उठ खड़े होते हैं। धर्म–राजनीति का रिश्ता क्या है ? धर्म का अर्थ ब्राह्मणवादी कर्मकांड या संकीर्ण संप्रदायवाद है अथवा बड़े मानवीय मूल्य ? राजनीति का अर्थ केवल सत्ता प्राप्त करना है या मानवीय दुख–दर्द, अन्याय, असमानता के उन्मूलन की प्रक्रिया है ? या शुद्ध व्यवस्था करके साधारण की प्रतिष्ठा करना है ? इन सवालों के साथ एक सवाल और जुड़ जाता है कि इस पुराने देश ने, अपने पुराने साहित्य और पुराण में, इन प्रश्नों को अपने जमाने में कहां तक हल किया है ? वे मूल्य आज के संदर्भ में कितने उपयोगी अथवा अनुपयोगी रह गये ?

इन सारे सवालों को उठाने के पहले एक संपूर्णता को बांधने की बड़ी चेष्टा वाली तस्वीर को सामने रख लेना समीचीन होगा। वह तस्वीर है श्रीमद्भागवत पुराण में पुराण–पुरुष की तस्वीर। जो अपने में एक बड़े असंभव को बांधने की चेष्टा है। सपने और हकीकत का सुंदर समन्वय है। वह पुराण–पुरुष कुछ न करते हुए सब कुछ करता है। उसका नेत्र अंतरिक्ष है। देखने की शक्ति सूर्य है। दोनों पलकें विभाजित काल, दिन-रात हैं। कर्ण दिशाएं, ऊपर का होंठ लाज, नीचे का लोभ। उसकी मुस्कान ही जगत–मोहिनी माया है। जिह्वा रस, मुख अग्नि, भुजाएं इंद्र हैं। चित्त में धर्म और वक्ष में लक्ष्मी का निवास है। अधोभाग काम प्रदेश है। चरण संचरण हैं। चलते रहना ही उसका कर्म है और उस पुराण–पुरुष की पीठ अधर्म, पराजय और मोह है।

बड़ी काव्यमयी और रहस्यमयी यह छवि दिखाई देती है। जगत का अधिष्ठाता धर्म के साथ–साथ अधर्म भी अपनी पीठ पर ढो रहा है। एक अंतर्विरोध लगता है, पर यह अंतर्विरोध ही तो उसकी माया है। भारतीय चिंतकों ने जगत को काफी यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा है। माया–ब्रह्म, सद्–असद् के बीच मनुष्य जीता है। शुभ और अशुभ दोनों के द्वंद्व को ही सृष्टि कहा गया है। इन दोनों के

द्वंद्व के बीच गुजरते रह कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार चक्रीय क्रियाओं से पार करना ही जगत की क्लिष्टता को पार करना है। वस्तुतः जो केवल शुभ ही देखता है, वह संपूर्ण को नहीं देख पाता। उसी तरह जो केवल अशुभ को देखता है वह भी उसकी पीठ ही देख पाता है, परंतु जो सम्यक् दृष्टि से विराट को उसकी संपूर्णता के साथ देखता है, वह धर्म-अधर्म दोनों को देखता है।

पुराण-पुरुष के चित्त में धर्म है और वक्ष में लक्ष्मी अर्थात अर्थ का निवास है। यह बड़ा ही गहरा और अर्थवान रूपक है। वक्ष तो मनुष्य का ऊपरी हिस्सा है लेकिन चित्त उसका गहरा और महत्वपूर्ण भाग है। चित्त अर्थात धर्म से लक्ष्मी को मर्यादित करना। यहां अर्थ या अर्थशास्त्र का तात्पर्य राजनीति, अर्थनीति को साथ देखने की परंपरा है। इसीलिए धर्म पहले, बाद में अर्थ। अर्थात राजनीति का दूसरा नंबर आता है। राजनीति को मर्यादित करने के लिए धर्म और धर्म को सगुण करने के लिये राजनीति। इन दोनों के संतुलित द्वंद्व से ही समाज और व्यक्ति का स्वस्थ विकास हो पायेगा।

हमारे यहां मूल प्रश्नों को बड़े गहरे ढंग से सोचा गया है, पर वहीं हाल-हाल के दुःख दर्दों के प्रति एक हद तक उदासीनता भी दिखायी गयी है। सामाजिक गैर-बराबरी, शोषण, साधारण की प्रतिष्ठा के बारे में किसी समुचित पथ या मार्ग के बारे सोचा नहीं गया। सगुण और निर्गुण का फर्क हमारे यहां काफी मिलता है। निर्गुण में जहां प्राणीमात्र की समता की बात कही गयी है, वहीं सगुण में आदमी-आदमी में फर्क का एक लंबा सिलसिला भी जातिवाद में स्पष्ट है। शिक्षा, ज्ञान, शक्ति, शासन और व्यापार में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का एकाधिकार माना गया है, जो एक प्रकार से चल रहा है। शूद्र केवल शोषण, गुलामी और अंधकार के बीच रहने वाले लोग हैं, अभी भी जिनकी छाया मात्र से पाप का भागी समझा जाता है। ब्राह्मणवादी दिमाग का यही बेमेलपन आज भी राजनीति और धर्म के रूप में परिलक्षित होता रहता है।

असल में धर्म के तो चार पैर थे। वे पैर तप, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति हैं। पर अब केवल धर्म का एक पैर, भक्ति रह गयी है, तीन पैर तो ब्राह्मणों के क्षुद्र स्वार्थ, लोभ के कारण टूट गये।

एक पैर वाला धर्म लूला, अपंग, वीर्यहीन होकर संसद या राजसभाओं के बाहर सड़कों पर पड़ा सिसक रहा है। देश में अगर सत्य की राजनीति प्रतिष्ठित करनी होगी तो उसे उसके तीन पैर—तप, ज्ञान, वैराग्य लौटाने ही होंगे। साथ ही तीन नये पैर और देने होंगे। वे तीन नये पैर समता, स्वतंत्रता, सत्याग्रह या प्रति-

कार हैं। तभी यह सात पदों वाला धर्म देश की राजनीति और समाज को तेजस्वी, वीर्यवान और मूल्यों वाला बना पायेगा।

राजनीति की दो बाहें हैं। एक केवल सत्ता वाली राजनीति की दूसरी परिवर्तनवाली राजनीति की। केवल सत्तावाली राजनीति शोषण, दमन, प्रमाद और भोग की ओर ले जाती है। मूलतः यह राजावाली राजनीति है।

दूसरी राजनीति प्रतिपक्ष की होती है, जो शासन में तो नहीं रहती पर अपने बड़े मूल्यों के लिए राजा पर भाषण, लेखनी, सत्याग्रह के द्वारा उसे धर्म की ओर झुकाती रहती है और राजा प्रतिपक्ष के भय से ही धर्मोंमुखी होता है। यदि प्रतिपक्ष शिथिल, कमजोर हुआ तो राजा या सत्ताधारी पार्टी स्वेच्छाचारी, निरकुंश और प्रमद हो जाती है। फिर कलि के पांव जमने लगते हैं और क्रमशः धर्म का एक ही पैर रह जाता है। और राजनीति बेईमानी, झूठ, हत्या, मक्कारी के रूप में प्रकट होने लगती है। पदों के लिये राजपुरुष आपस में लड़ने लगते हैं।

प्रतिपक्ष का अर्थ यहां केवल विरोधी दल मात्र से ही नहीं है, वरन एक विरोध के, अस्वीकार के दर्शन के बीच व्यवहार और प्रतिक्रिया करने वाले से है। मूलतः दुनिया भर की सरकारें कमोबेश यथास्थितिवादी होती हैं। नये या बड़े परिवर्तन से, जोखम से बढ़ते रहने का उनका स्वभाव होता है। पर प्रतिपक्ष का दर्शन आगे देखू तथा वर्तमान से सदा असंतुष्ट वाला होता है। वह वर्तमान पर खड़ा होकर नयी संभावनाओं और नये विकल्पों के लिये यथास्थितियों को अस्वीकारता हुआ सरकार या सत्ताधारी दलों को अपने तर्क, आंदोलन, लेख इत्यादि से हिलाता रहता है। तथा उन्हें कुछ आगे देखने के लिये मजबूर करता है। साथ ही वर्तमान की सही उपलब्धियों को नापता-जोखता रहता है। सरकार और प्रतिपक्ष के द्वंद्व से लोकतंत्र सजीव और प्राणवान हो जाता है।

इसमें कई आयामों में एक आयाम और भी है। वह है जनता।

सरकार और प्रतिपक्ष दोनों ही कमोबेश राजपुरुषों की बिरादरी में ही आते हैं, जो एक-दूसरे की क्रियाओं-प्रतिक्रियायों के बीच चलते हैं। पर इनके अलावा संपूर्ण, दुःख, ताप को भोगने वाली जनता होती है। जनता को जाग्रत और उत्तिष्ठ होना होगा।

जब सत्य से झूठ बड़ा हो जाये, मूर्ख और लंपट विद्वान तथा संत कहे जाने लगें, कायर और नपुंसक को वीर कहा जाने लगे तभी कलि बलवान हो उठता है। कलि में धर्म की स्थापना कठिन है। लेकिन इसके बिना गति नहीं है।

राजनीति का आजकल बड़ा महत्व हो गया है। इसे धर्म से युक्त बनाना आवश्यक है। धर्महीन राजनीति भयावह है। पुराण-पुरुष की पीठ है, अधर्म, धर्म और प्रतिपक्ष की राजनीति पर और गहराई से सोच-विचार जरूरी है।